भारतीय जैन-साहित्य-संसद्

(सोसायटी एक्ट २१ के अनुसार रजिस्टर्ड नं० १३ दिनांक १२ ८ ६५)

परिवेशन

१

सम्पादक

प्राचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य
(स्या वि० काशी)

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, एम० ए० पी-एच० डी०
(म शा स० जयपुर)

प्रो० दरबारीलाल कोठिया एम० ए० आचार्य
(हि० वि० वि० काशी)

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री एम० ए० पी एच० डी०
(एच डी० जैन का० आरा)

विषय-सूची

१ अध्यक्षीय भाषण श्री श्रीधर वासुदेव सोहोनी I C S — १
२ स्वागताध्यक्षीय भाषण श्री सुबोध कुमार जैन — १२
३ स्थायी अध्यक्षीय भाषण आचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री — १७
४ साहित्य-कला-संगोष्ठी उद्घाटन भाषण आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा — २०
५ प्रधानपदीय भाषण प० फूलचन्द्र शास्त्री — २३
६ अध्यक्षीय भाषण डा० ज्योतिप्रसाद जैन — २७
७ मयोजकीय भाषण डा कस्तूरचन्द्र कासलीवाल — ३७
दर्शन-आचार संगोष्ठी उद्घाटकीय भाषण डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' — ३६
९ अध्यक्षीय भाषण डा एन के देवराज — ४३
१ मयोजकीय भाषण प्रो दरबारीलाल कोठिया — ४६
११ निबन्ध हिन्दीका जन साहित्य प्रो० गदाधर सिंह एम० ए — ४९
१२ मानतुङ्ग डा० नेमिचन्द्र शास्त्री — ६१
१३ राजस्थानी जैन सन्तोकी साहित्य साधना डा कस्तूरचन्द कासलीवाल — ६९
१४ अपभ्रशमे कडवक छन्द डा० राजाराम जैन — ७४
१५ अपभ्रंश साहित्य और साहित्यकार श्री प्रेमसुमन जैन — ७८
१६ हेमचन्द्रके अपभ्रश-व्याकरणोद्धृत पद्योका तुलनात्मक अध्ययन प्रो० शालिग्राम उपाध्याय — ८६
१७ जैन साहित्यमें ग्राम-चेतना श्री रामनाथ पाठक प्रणयी — ९५
१८ प्राचीन भारतमे जन शिक्षा-पद्धति डा० हरीन्द्र भूषण — १०१
१९ कविवर बनारसीदास और रसपरम्परा श्री जमनालाल जैन — १११
२ आ वीरसेनकी धवला-टीका प्रो० उदयचन्द्र एम० ए० — १२३
२१ परीक्षामुख एक अनुशीलन श्री सुदर्शनलाल एम० ए — १२९
२२ भगवान् महावीरका दिव्य दर्शन श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव — १३३
२३ The conception of s lf in Jaina Metaphysics Rampravesh Pandey — १३८
२४ Can gainism stop war ? Prof D wakar Pathak — १४४
२५ The Conception of Godhead in gainism Prof Rai Ashwini Kumar M A — १५५

२६ Jain Phiiosophy of non absolutism and and omniscience

P of Shri Ramgee singh M A — १५२

२७ प्रतिवेदन प्रो० दरबारीलाल कोठिया, एम० ए० — १५८

२ सम्पादकीय डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी०-एच० डी० — १६१

२९ काय प्रवृत्तियां और उपसमितियां — १७३

३ संसद् नियमावली — १७४

३१ ससद् की वतमान कायसमिति — १७५

३२ ससद् का सदस्यता प्रवेशपत्र — १७६

●●●

भारतीय जैन साहित्य संसद—आरा अधिवेशन

के

अध्यक्ष

श्री श्रीधर वासुदेव सोहोनी (I C S)

वाइस चांसलर सर कामेश्वर संस्कृत विश्वविद्यालय

एवं

फुड एण्ड डवलपमेण्ट कमिश्नर बिहार राज्य

का

अभिभाषण

मान्य श्री स्वागताध्यक्ष संसद के सदस्यगण उपस्थित सज्जनो एवं देवियो

भारतीय जन साहित्य संसद् का अधिवेशन आरा जसे नगर में जहाँ ताडपत्रीय एवं कर्गलीय पाण्डुलिपियो का विशाल ग्रन्थागार है सम्पन्न हो रहा है यह आरा नगर के लिये जितने हर्ष और गौरव की बात है उतनी ही साहित्य-संसद् के लिये भी। मूर्तिमान साहित्य देवता के मन्दिर मे इस प्रकार के समारोह का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। मैं जन-साहित्य का पण्डित नहीं हूँ पर इस साहित्य का प्रेमी अवश्य हूँ। भारतीय साहित्य के अध्ययन के प्रति अनुराग रहने से जन साहित्य के कुछ रत्नो के अवलोकन का सुअवसर अवश्य प्राप्त हुआ है। जनधर्म में २४ तीर्थंकरों की मान्यता है। पार्श्वनाथ और महावीर को तो ऐतिहासिक मान्यता प्राप्त हो ही चुकी है ऋग्वेद के आधार पर अरिष्टनेमि को भी ऐतिहासिक मानने मे विशेष विवाद नहीं है। केशीसूक्त मे वर्णित केशी जटाधारी ऋषभ ही प्रतीत होते ह। पुरातत्वावशेषो से प्राप्त ऋषभ की केशवाली मूर्ति सुकेशीसूक्त में वर्णित लक्षणो से सादृश्य रखती है।

सिन्धु-सभ्यता मे प्राप्त पशुपति की मूर्ति का अध्ययन करते हुए श्री आर पी० चन्दा ने मोडर्न रिव्यू (१९३५) मे लिखा है कि कायोत्सर्ग नामक योगासन में खडे हुए देवताओं की मुद्रा जन योगियों की है। इस मुद्रा में मथुरा-संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति भी उपलब्ध है। ऋषभ का अर्थ बैल है जो आदिनाथ का चिह्न है। सिन्धु-सभ्यता की मुहर संख्या F G H फलक पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल बना है सम्भव है यह ऋषभदेव का ही पूर्वरूप हो। श्री राधाकुमुद मुकर्जी[1] ने Hindu Civilization नामक अपनी पुस्तक मे अनुमान किया है कि शैवधर्म की तरह जैनधर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु-सभ्यता तक चला जाता है।

1—हिन्दू सभ्यता—राजकमल प्रकाशन दिल्ली (१९२८) पृ० २३।

हो सकता है कि वैदिक संस्कृति के आर्यावर्त मे विस्तार पाने के पहले जैन सिद्धांतो का संवर्धन भारत की प्राचीन संस्कृति के विकास की अंतिम अवस्था मे हुआ। किसी भी संस्कृतिका इतिहास कुछ सीमा तक अलिखित रहता है। विश्लेषण करने पर उसके प्रधान अंश स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। परन्तु घटनाओ की उत्क्रान्ति का कालयापन करने मे कठिनाई रहती है और इतिहासो में इस सम्बन्ध से एक मत पाना अशक्य सा हो जाता है। परतु यह असंभव नही है कि हिमालय और गंगा के बीच के समतल प्रदेश पर मानवी सभ्यता के विकास मे जन तत्वो के सचालन का प्रारंभ भगवान् महावीर के पहले यानि आज से २५ वर्षो के पहले कई एक शतको से हुआ होगा। इस प्रदेश मे कृषि-जीवन के लिए जो साधन सुलभ हुए और जिनके माध्यम से मानव समाज बदला गया उन्हीं के आधार पर जन सिद्धातो का प्रादुर्भाव आगे चलकर हुआ।

ऋग्वेद के विशेष अध्ययन से अवगत होता है कि [illegible]ासो और दस्युओ के साथ पणि भी प्राचीन भारत मे निवास करते थे। ये पणि वैदिक-देवता इ[illegible] को न[illegible]ी मानते थे। Ludvig ने अनुमान लगाया है कि पणि आदिवासी व्यापारी थे। इनका आर्यों के साथ युद्ध भी होता था अत बहुत सम्भव है कि ये पणि श्रमण-संस्कृति के उपासक र[illegible]। आर यक और उपनिषदो मे आत्मा पुनजन्म स[illegible]यास तप और मुक्ति का वणन पाया जाता है। आ म विद्या का एक छोर पुनर्ज[illegible]म है तो दूसरा छोर मुक्ति है। स[illegible]यास धारणकर यक्ति ज म मरण से मुक्ति प्राप्त करता है। इन तत्वो के आधार पर विद्वानो का अनुमान है कि जैनधर्म का अस्तित्व वदिककाल मे श्रमण सस्कृति के रूप मे वत्तमान था। ऋ वेद क १ व म ल के १३६ वें सूक्त मे वातरशना श[illegible]द द्वारा नग्न मुनियो का स्मरण किया गया है। वातरशना श[illegible] का अथ दिग्वासा वातरशना नि[illegible] येशो निरम्बर अर्थात् दिगम्बर निग्रन्थ मुनि को वातरशना कहा गया है। अतएव स्पष्ट है कि जनधम का अस्तित्व वैदिक धर्म के समान ही प्राचीन है।

अन्तिम तीथकर श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद सिद्धा त ही जनधम की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है क्योकि राजनीति जीवन और समाज मे समन्वया[illegible]मक विचारो का निरूपण करनेवाला सिद्धान्त एकाएक प्रस्तुत नहीं हो सकता। यह उदार सिद्धान्त कई विचारको के विचारों से परिष्कृत होने के पश्चात् ही निष्पन्न हुआ होगा। प्राणीमात्र के विचारो और कथनो में सत्याश प्राप्त करना और हठ एव पक्षपात को छोडकर समन्वया[illegible]मक दृष्टिकोण को अपनाना शताब्दियो के विचार म[illegible]थन के बाद ही निसृत हो सकता है। अत २४ तीथकरों की मा[illegible]यता सिद्ध करने के लिये स्याद्वाद सिद्धा[illegible]त एक सबल निदशन है। भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्यामिक उपदेश दिया जबकि महावीर ने उसमे संशोधन एव परिवद्धन कर उसे पंचयामी बनाया। अत सम्भव है कि स्याद्वाद सिद्धान्त किसी एक समय मे विकसित न हुआ हो बल्कि तीर्थंकरों द्वारा यह सिद्धान्त क्रमश पूर्णता को प्राप्त हुआ होगा।

उपलब्ध जैन साहित्य भगवान महावीर के उत्तरकाल का है। जैनो का समस्त वाङमय ११ अंग एवं १४ पूर्व के रूप मे निबद्ध माना जाता है। पर ये मूल आगमग्रन्थ समय के प्रभाव से आज अपने यथार्थरूप में प्राप्य नहीं हैं। अत मैं उपलब्ध वाङमय को भाषा की दृष्टि से संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश हिन्दी कन्नड तमिल मराठी आदि भागो मे विभक्त कर यहाँ उनका सर्वेक्षण करने का प्रयास करूँगा।

संस्कृत-साहित्य :

संस्कृत भाषा में धर्म और दर्शन के अतिरिक्त काव्य कोष, छन्द अलंकार, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, मुद्राशास्त्र प्रभृति विषयो पर विपुल ग्रंथ रचे गये हैं। आचार्य गृद्धपिच्छ ने प्रथम शताब्दी में 'तत्त्वार्थसूत्र' की रचना की। यह ग्रन्थ सूत्रशैली का प्रथम जैनदार्शनिक ग्रन्थ है। गृद्धपिच्छ ने समस्त जैन तत्त्वज्ञान को इस छोटी-सी जैनकृति में ही निबद्ध करने की सफल चेष्टा की है। जिसे संक्षेप में जैन सिद्धान्तो को समझना हो उसके लिये यह ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी के समान उपयोगी है।

गृद्धपिच्छ के पश्चात् सस्कृत भाषा का दूसरा दार्शनिक कवि समन्तभद्र है। इनका समय प्राय ईस्वी की दूसरी सदी है। इन्होंने स्वयम्भू-स्तोत्र स्तुतिविद्या देवागम-स्तोत्र युक्त्यनुशासन रत्नकरण्ड-श्रावकाचार जीवसिद्धि तत्त्वानुशासन प्रमाणपदार्थ कर्मप्राभृतटीका एवं गन्धहस्ति महाभाष्य नामक ग्रंथो की रचना की है। संस्कृत काव्य के क्षेत्र मे समन्तभद्र की सबसे बड़ी देन चित्रालंकार की है। अभी तक विद्वानो का यह मत है कि भारवि और माघ से ही चित्रालंकार का श्रीगणेश होता है पर समन्तभद्र के अध्ययन से चित्रकाव्य की परम्परा ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी तक पहुँच जाती है। दर्शन के क्षेत्र में समन्तभद्र को प्रथम जैन दार्शनिक विद्वान् कह सकते हैं। स्तोत्र शैली में दार्शनिक सिद्धान्तो का ग्रथन इनकी अपनी विशेषता है।

समन्तभद्र के पश्चात् कवि और दार्शनिक के रूप मे सिद्धसेन का नाम आता है। जैनेन्द्र महावृत्ति मे समन्तभद्र एव सिद्धसेन दोनो के नाम आये हैं। सिद्धसेन ने सन्मतिसूत्र की रचना प्राकृत मे और द्वात्रिंशतिकाओ की रचना संस्कृत मे की है। प्राय इनकी द्वात्रिंशतिकाओ में काव्य और दर्शनतत्त्व सम्यक रूप मे उपलब्ध है।

सस्कृत के तीसरे जैनाचार्य देवनन्दि पूज्यपाद हैं। ये एक साथ कवि वैयाकरण और दार्शनिक है। इनका समय विक्रम की ५ वी सदी का उत्तरार्ध माना गया है। जनेन्द्र व्याकरण सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र और इष्टोपदेश के अतिरिक्त इनका दशभक्ति नामक ग्रंथ भी पाया जाता है।

पात्रकेशरी और मानतुंग भी ७ वी सदी के संस्कृत के आचार्य हैं। मानतुंग के लोकप्रिय भक्तामर-स्तोत्र से जन-जन परिचित है। प्रबन्ध-काव्य के रूप में तीर्थंकर चक्रवर्ती नारायण प्रति नारायण प्रभृति महापुरुषो के चरितो को काव्य रूप मे निबद्ध करने की परम्परा ईस्वी सन् की ७ वी सदी से प्रारम्भ होती है। रविषेण और जटासिंहनन्दि इस प्रकार के जैन कवि हैं जिन्होने रामायण की शैली पर प्रबन्धों का सृजन किया है। प्राकृत में जिस राम-कथा को विमलसूरि ने निबद्ध किया था उसी राम कथा को रविषेण ने ललित छन्दो मे निबद्ध किया है। रविषेण ने रामायण के पात्रों के चरित्र को बहुत ही उदात्त और उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया है। राक्षस और वानर वंश को विद्याधर राजा एवं कैकेयी अंजना सीता एव मन्दोदरी आदि नारी-पात्रो के चरित्रों को सहानुभूति पूर्वक चित्रित कर उन्हे दया ममता और वात्सल्य का स्रोत सिद्ध किया है। बालि और रावण के चरित्र भी कम उदात्त नही हैं। जटासिंहनन्दि ने वराङ्गचरित नामक काव्य की रचना महाकाव्य के रूप मे की है। कवि की प्रतिभा दर्शन और तत्त्वज्ञान के निरूपण में जितनी प्रखर हुई है उससे अधिक सौन्दर्य के चित्रण में। पद्मचरित और वराङ्गचरित ये दोनो ही ग्रन्थ समाज और संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ८ वी शताब्दी का समाज पूर्णतया इन ग्रन्थों में प्रतिफलित हुआ है।

८ वीं शती में एक महान विभूति और अवतरित होती है। यह विभूति है आचार्य वीरसेन जिन्होंने षटखण्डागम की संस्कृत प्राकृत मिश्रित मणि प्रवाल भाषा मे ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका और कसायपाहुड की २ हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी। इस प्रकार एक ही आचार्य ने ९२ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची है। भाषा का ह्रा स इस टीका का जितना महत्त्व है उससे कहीं अधिक विषय-वैविध्य की दृष्टि से। गणित योतिष भूगोल समाज-शास्त्र, राजनीति शास्त्र प्रभृति अनेकानेक विषय महाभारत के समान ही इसमे निबद्ध हैं।

काव्य के क्षेत्र मे सन्धानात्मक का य और सस्कृत कोष की रचना करने वाला कवि धनञ्जय है। इसका समय अनुमानत वी सदी है। इसने १ सग प्रमाण द्विस धान महाकाव्य नाम मालाकोष अनेकाक्षरनाममालाकोष विषापहार स्तोत्र प्रभृति ग्र थ रचे है।

जैन न्याय का संवर्द्धक अद्भुत प्रतिभाशाली महादार्शनिक अकलंकदेव का समय भी ८ वी शताब्दी है। इन्होने लघीयस्त्रयवृत्ति यायविनिश्चय सिद्धिविनिश्चय प्रमाणसग्रह त वार्थराजवार्तिक एवं अष्टशती प्रभृति ग्र थो की रचना की है। अकलंकदेव वह दार्शनिक पण्डित है जि होने अपने समय क आस्तिक दशन और बौद्धदशन के सिद्धान्तो की तकपूण मीमासा प्रस्तुत की है। जन याय के क्षेत्र मे अकलंकदेव को हम धमकीर्ति और कुमारिल भट्ट से कम नही मानन। गुण और परिमाण दोनो ही दृष्टियो से अकलक की रचनाए बेजोड है।

इसी सदी के क अ य दार्शनिक आचाय हरिभद्र का भी हम नही भूल सकत। हरिभद्र न अकेले ही १४४ ग्र थो की रचना की है जिनमे आज लगभग ५ ६ ग्र थ ही प्राप्त है। सव साधारणोपयोगी योग और दशन पर उत्तम कोटि की रचना करने वाले ये आचाय है। नक षड्दर्शनसमुच्चय से प्र येक दशनशास्त्री अवगत है। अनकान्तजयपताका अपने ढग का एक अनुपम ग्रन्थरत्न है।

९ वी सदी मे जिनसेन प्रथम जिनसेन द्वितीय गुणभद्र विद्यान द व पभट्टि अ र वादीभसिंह सस्कृत के प्रसिद्ध कवि हुए हैं जिनसेन ने महापुराण का रचना कर एक नई साहि य विधा का जन्म दिया है। आचाय जिनसेन द्वितीय ने जहा पुराण क क्षत्र मे मीलप थर की स्थापना की वहा समस्यापूर्ति के रूप मे पार्श्वा युदय नामक एक उत्तम काव्य की भी रचना की है। मेघदूत मे जितना लालित्य और माधुय है शा तरस प्रधान होते हुए भी पार्श्वाभ्युदय मे उससे कम नही। मेघदूत के शृगारपरक लघुकथानक को शास्त्रीय ख डका य का स्वरूप प्रदान कर जिनसेन ने मेघदूत की परम्परा मे एक नई कडी जोडी है।

विद्यानन्द महान दार्शनिक है। इनकी अष्टसहस्री और त वार्थश्लोकवार्तिक किस दार्शनिक को अपनी ओर आकृष्ट नही करते? हमारी दृष्टि म समन्तभद्र अकलंक और विद्यान द ये तीन ऐसे दार्शनिक है जिन्होने जनदशन के क्षत्र मे अद्वितीय काय किया ।

वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि हमे बाणभट्ट की कादम्बरी का स्मृति दिलाता है। शैली की दृष्टिसे यह गद्य-ग्र थ किसी भी दृष्टि स कादम्बरी से कम नही है। आश्चर्य है कि अब तक इस सरस और गम्भीर गद्य काव्य के अध्ययन की ओर विद्वानो का ध्यान आकृष्ट नही हुआ है।

१ वी शताब्दी मे हरिषेण असग कवि बालच द्र वीरन द और हरिच द प्रमुख संस्कृत के महाकवि हुए है। असग के वर्धमानचरित और शान्तिनाथचरित दोनो ही महाकाव्य । वीरनं द

ने चन्द्रप्रभचरित नामक महाकाव्य की रचना की है। यह काव्य रघुवंश और कुमारसम्भव से कम सरस नहीं है। महाकवि हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय तो माघ कवि के शिशुपालवध के समान ही महत्त्वपूर्ण है। इस महाकाव्य का प्रभाव श्रीहर्ष के नैषधचरित पर भी है। कवि के उपमान उत्प्रेक्षाएँ कल्पनाएँ एव बिम्ब योजनाएँ अनुपम हैं।

११वीं सदी के महाकवि वादिराज का पार्श्वनाथचरित महाकाव्य और यशोधरचरित खण्डकाव्य निश्चय ही अद्वितीय रत्न हैं। इसी सदी मे सोमदेव ने यशस्तिलकचम्पू और नीतिवाक्यामृत की रचना कर जैन साहित्य को अमर बना दिया है। राजनैतिक और आर्थिक विचारों की दृष्टि से नीतिवाक्यामृत को कौटिल्य के अर्थशास्त्रके समकक्ष मानना न्याय-संगत है। इसी शताब्दी में महाकवि महासेन ने प्रद्युम्नचरित नामक महाकाव्य की रचना कर ललित काव्य को एक नई दिशा प्रदान की है। धनपाल की तिलकमंजरी इसी शती की अनुपम गद्य रचना है।

१२वी सदी मे वाग्भट्ट धनेश्वर श्रीपाल हेमचन्द्र जिनचन्द्र पद्मानन्द चन्द्रप्रभ मुनिचन्द्र देवचन्द्र रामचन्द्र गुणचन्द्र और विजयपाल सस्कृत के प्रसिद्ध जैन कवि हुए हैं। हेमचन्द्र मे वैयाकरण दार्शनिक आलंकारिक कोशकार एव महाकवि का व्यक्तित्व एक साथ सम्पृक्त है। इनका काव्यानुशासन अलकार शास्त्रियो के लिये महत्त्वपूर्ण तो है ही पर हैमशब्दानुशासन १२ वीं शताब्दी तक की समस्त भाषा प्रवृत्तियो का अनुशासन करने मे पूर्णतया सक्षम है। पाणिनि के द्वारा सस्कृत भाषा को एक सुष्ठुरूप प्राप्त हो जाने पर भी उससे कुछ नैसर्गिक विकास होता रहा है। इन विकसित होने वाली प्रवृत्तियो की सूचना हेमचन्द्र जितनी प्रामाणिकता से दे सके है भोज आदि वैयाकरण नही।

१३वी सदी मे लगभग दो दजन सस्कृत के जैन कवि और आचार्य हुए है। इन आचार्यों मे हस्तिमल्ल का जैन नाटक रचयिता के रूप मे प्रमुख स्थान है। इस शताब्दी मे लगभग २ संस्कृत के महाकाव्य रचे गये हैं। धर्मकुमार का शालिभद्रचरित माणिकचन्द्र का पार्श्वनाथचरित अर्हद्दास का मुनिसुव्रतमहाकाव्य वस्तुपाल का नरनारायणानन्दमहाकाव्य बालचन्द्र का वसन्तविलास महाकाव्य वर्द्धमानभट्टारक का वरांगचरितमहाकाव्य अमरचन्द्र का पद्मानन्दमहाकाव्य जिनपाल उपाध्याय का सनत्कुमारचरितमहाकाव्य ऐसी अमूल्य काव्य मणियाँ हैं जिनके आलोक को तिरोहित नही किया जा सकता।

१४वी सदी मे जिनप्रभ लक्ष्मीतिलकगणि मानतुंग मेरुतुग प्रभाचन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि आदि लगभग एक दर्जन से अधिक कवि हुए हैं। मानतुग का श्रेयांसनाथचरित कमलप्रभसूरि का पुण्डरीकचरित मेरुतुग का जैनमेघदूत काव्यगुणो की दृष्टि से प्रथमश्रेणी के महाकाव्य हैं। जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित श्रेणिकचरित मे महाकाव्य के समस्त लक्षण सन्निहित हैं।

१५ १६वी शताब्दी तो सस्कृत-काव्य के विकास के लिये स्वर्णयुग ही है। अकेले भट्टारक सकलकीर्ति ने इतने अधिक काव्य और चरित ग्रंथो का प्रणयन किया है जिससे एक अच्छा-सा पुस्तकालय इन्हीं की कृतियो से समृद्ध किया जा सकता है। मेधावी पण्डित का चित्रबंध-स्तुतिकाव्य काव्यालोचको के लिये मनोरंजन की वस्तु है। मुनिभद्र ने शान्तिनाथचरित और चरित्रसुन्दर ने कुमारपालचरित की रचनाकर महाकाव्य की विधा को एक नई दिशा प्रदान की है। वर्णन विस्तार-युक्त

सीधी सादी कथा का आश्रय लेकर आन्तरिक और बाह्य संघर्षों की अभिव्यञ्जना ही इस शती के जैन महाकाव्यों की विशेषता है। दोडय्य कवि का भुजबलिचरितम् एक सरस और मधुर खण्डकाव्य है। जैन सिद्धान्त भास्कर भाग १ किरण २ मे इस काव्य की मूल पाण्डुलिपि प्रकाशित हुई थी। कवि ने खण्डकाव्य की सीमित सीमा मे बंधकर भी पात्रों के चरित को महाकाव्योचित उदात्तता प्रदान की है।

१७वी शताब्दी मे वादिचन्द्र मेघविजय और राजमल्ल ये तीन ऐसे संस्कृत के महाकवि हुए हैं जिन्होने सरल परिष्कृत और समासहीन संस्कृत शैली मे काव्यों की रचना की है। सन्धान काव्य विधा के समृद्ध होने की दृष्टि से यह शती अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मेघविजयगणि का सप्तसंधान महाकाव्य एक साथ ७ अर्थों को लेकर लिखा गया है। जनकवि जगन्नाथ ने एक ही पद्य मे २४ अर्थों की योजना की है। श्रीभूषण भट्टारक द्वारा विरचित शान्तिनाथचरित भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

१५ वी और १७ वी शताब्दी के मध्य यशोधरनृपति का आख्यान बहुत ही लोकप्रिय रहा है यही कारण है कि लगभग १५२ काव्य विविध भाषाओ मे यशोधरचरित पर ही लिखे गये हैं। काव्यगुणो की दृष्टि से पद्मनाभ कायस्थ का यशोधरचरित एक सुन्दर काव्य है।

जन लेखको द्वारा अलंकार साहित्य पर वाग्भट कवि का वाग्भटालंकार द्वितीय वाग्भट का काव्यानुशासन हेमचन्द्र का काव्यानुशासन अरिसिंह की काव्यकल्पलतावृत्ति अजितसेन का अलंकारचिन्तामणि रामचन्द्र गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण भावदेव का काव्यालंकारसार विजयवर्णी की शृङ्गारार्णवचन्द्रिका अमृतनन्दि का अलंकारसंग्रह आदि ग्रन्थ अलंकार साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। काव्यप्रकाश पर माणिक्यचन्द्र कवि ने संकेत नामकी प्रथम संस्कृत टीका लिखी है। रुद्रट के काव्यालंकार पर नमिसाधु का सर्वोत्तम संस्कृत टीका है।

कोश की दिशा मे धनञ्जय की नाममाला अनेकार्थनिघण्टु हेमचन्द्र का अभिधानचिन्तामणि अनेकार्थसंग्रह श्रीधर का विश्वलोचनकोश राजचन्द्र का देश्यनिदर्शनिघण्टु शिवशम्भु का एकाक्षर नाममालाकोश पुण्यरत्नसूरि का द्वयक्षरकोष असगकवि का नानार्थकोश हर्षकीर्त्ति की नाममाला भानुचन्द्र का नामसंग्रहकोष आदि कोश-साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

ज्योतिष विषयक साहित्य मे भद्रबाहु का अर्हच्चूडामणिसार ऋषिपुत्रका निमित्तशास्त्र भद्रबाहु भट्टारक का निमित्तशास्त्र चन्द्रसेन का केवलज्ञानहोरा श्रीधर का ज्योतिषशास्त्र एवं ज्योतिर्ज्ञानविधि मल्लिसेन का आयसद्भाव उदयप्रभ का व्यवहारचर्या राजादित्यका व्यवहाररत्न पद्मप्रभसूरि का भुवनदीपक नरचन्द्र का लग्नविचार ज्योतिषप्रकाश प्रश्नशतक एवं वेडाजातकवृत्ति अर्हद्दास का अट्ठमत महेन्द्रसूरि का यन्त्रराज भद्रबाहुकी भद्रबाहुसंहिता समन्तभद्र का केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि हेमप्रभ का त्रैलोक्यप्रकाश और मेघमाला रत्नशेखर का दिनशुद्धि प्रकरण मेघमहोदय का वर्ष प्रबोध और हस्तसंजीवन उभयकुशल का विवाहपटल प्रभृति ग्रन्थ उल्लेख्य हैं। भट्ट वोसरि का आयज्ञानतिलक तो ज्योतिष का एक बहुमूल्य ग्रन्थ है।

गणित के क्षेत्र मे महावीर का गणितसारसंग्रह एवं ठक्कुर फेरु का गणितसार आदि गणित के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

इस प्रकार संस्कृत भाषा मे जन विद्वानो ने विविध विषयक साहित्य का प्रणयन किया है।

प्राकृत-साहित्य :

अर्धमागधी प्राकृत के ४५ आगम-ग्रन्थों के अतिरिक्त शौरसेनी आगम-ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय बारसअणुवेक्खा एवं अट्ठपाहुड स्वामिकार्तिकेय की कत्तिगेयाणुवेक्खा वट्टकेर का मूलाचार, वसुनन्दि का उपासकाध्ययन सिद्धान्तचक्रवर्ति नेमिचन्द्राचार्य के गोम्मटसार लब्धिसार क्षपणासार त्रिलोकसार एवं द्रव्यसंग्रह प्रभृति ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

काव्य और कथा साहित्य की दृष्टि से विमलसूरि का पउमचरिय संघदासगणि की वसुदेवहिण्डी हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा उद्योतनसूरि की कुवलयमालाकहा पादलिप्तसूरि की तरंगवइकहा जिनेश्वरसूरि की निर्वाणलीलावइकहा जिनचन्द्र की संवेगरंगशाला महेश्वरसूरि की नाणपंचमीकहा चन्द्रप्रभमहत्तर का विजयचन्द्रकेवलिचरिय गुणचन्द्र का महावीरचरियं देवभद्र का श्रीपासणाहचरिय नेमिचन्द्र का महावीरचरिय रयणचूडरायचरिय सुमतिसूरि का जिनदत्ताख्यान जिनहर्ष की रयणसेहरनिव कहा वीरदेव की महीवाल-कहा एवं सिंहतिलक की आरामसोहा कहा आदि लघुकथाएँ महत्वपूर्ण हैं। इन कथा और काव्यों को मनोरंजक और सरस बनाने के हेतु विविध सम्वाद प्रहेलिका समस्यापूर्त्ति सुभाषित सूक्ति विष्णुगीतिका चर्चरी गीत एवं प्रगीतों की भी योजना की गई है। चरित काव्यो में प्रयुक्त उपमान अनेक दृष्टियों से नवीन हैं। पतित और दलित समाज का उत्थान तथा उस समाज के मार्मिक चित्र बड़ी उदारता के साथ प्राकृत काव्य और कथाओं में अंकित किये गये हैं। राम कृष्ण पाण्डव हनुमत् आदि के आख्यानों के विविध प्रकार के मनोरम एवं बुद्धिसंगत रूप प्राकृत काव्यों में चित्रित हैं।

अलंकार शास्त्र की दृष्टि से हेमचन्द्र का कुमारपालचरित संस्कृत के भट्टिकाव्य के समान ललित और शास्त्रीय है। कथाओं को लोकरंजक बनाने के लिये समन्वयवादी वृत्ति को अपनाया गया है। दान शील तप और सद्भावना के प्रचार द्वारा मानवचरित को उन्नत बनाने का अथक प्रयास किया गया है। सौन्दर्य पिपासा की शान्ति के हेतु नारी-सौन्दर्य के अतिरिक्त वन उपवन नदी सरोवर सूर्य चन्द्र उषा सन्ध्या एवं ऋतु आदि का चित्रण विस्तृत और सरस हुआ है। संस्कृत-काव्य-परम्परा का अनुसरण करने पर भी प्राकृत के जैन कवियों में वस्तु कल्पना और वस्तु संगठन की दृष्टि से मौलिकता और नवीनता है।

अपभ्रंश-साहित्य

बहुमुखी प्राकृत साहित्य के अतिरिक्त अपभ्रंश का साहित्य भी विविध प्रवृत्तियों की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जैन कवियों ने लोकभाषा को काव्य और साहित्य का माध्यम प्राचीन काल से ही बनाया है। यही कारण है कि अपभ्रंश में केवल काव्य कथा चरित्र एवं पुराण-विषयक रचनाएँ ही नहीं हैं, अपितु गणित आयुर्वेद वास्तुशास्त्र आदि अनेक विषय सम्बन्धी रचनाएँ उपलब्ध हैं। अपभ्रंश का सबसे पहला कवि चतुर्मुख है। इस कवि ने पद्धडिया छन्द का आविष्कार किया, जो छन्द अपभ्रंश के अनेक स्तरों को पारकर हिन्दी में भी इसी नाम से प्रयुक्त हुआ है।

प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से महाकवि स्वयम्भू आठवीं शताब्दी का वह कवि है, जिसने राम एवं कृष्ण कथा पर पृथक्-पृथक् अपभ्रंश में काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं। पउमचरिउ एवं रिट्ठणेमिचरिउ मात्र पुराण नहीं हैं किन्तु महाकाव्य के अनेक तत्त्व इन काव्यों में समवेत हैं। काव्यारम्भ की पुरानी

परम्परा का पालन करते हुए आरम्भ में स्वयम्भू ने पण्डितो से निवेदन किया है कि मेरे समान कुकवि कोई दूसरा न होगा। न तो मैं व्याकरण जानता हूँ और न पाँचो महाकाव्यो को ही। पिंगल और अलंकारका भी मुझे ज्ञान नहीं। कवि की यह उक्ति मात्र नम्रता का सूचक ही नही बल्कि कवि की अ भमता की सूचना है। राम के चरित्र मे कवि न आदर्श मानव के समस्त गुणा का सयोजन किया है। उसन उन मानव-मूर्तियों को गढा है जो मानव विकारो और कमजोरियो का आगार है। कवि मार्मिक प्रसंगो के नियोजन मे भी अ यन्त पटु है। सस्कत एव हिंदी के राम-का यो में लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का ही विलाप उपलब्ध होता है। पर कवि स्वयम्भू ने ऐसे स दभ का भी नियोजन किया है जिससे आहत लक्ष्मण की मूर्च्छित अवस्था को सुन भरत भी विलाप करते है भरत के हृ य की दशा का बहुत ही सरस और हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत हुआ है। भरत के करुण विलाप के समान ही रावण की मृत्यु पर विभीषण ने विलाप किया है। भाइ का छोड विभीषण राम से मिल गया पर रावण की मृत्यु के अन तर उसके हृदय मे आ मग्लानि क्षोभ पश्चाताप आदि कितने प्रकार के भाव उठे होगे। अत कवि स्वयम्भू ने अपनी सहानभूति विभाषण को भी प्रदान की है। मैं यहाँ एक ऐसी उदात्त कल्पना आप के सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिस क पना को बाल्मीकि आदि सस्कत क कवि तो प्रस्तुत कर ही नही सके है हिन्दी के महाकवि तुलसी आदि भी उसका स्पश नही कर सके। कल्पना वन गमन क करुण प्रसग की है। राजभवना मे रहने वाला राजवधू जानकी घर स बाहर चरण रखती है। स्वयम्भ की कल्पना पख खोलकर आकाश में उढ जाती हैं। वह कहता है— जानका अपन म दिर से क्या निकला मानो हिमवान् से गंगा निकल पडीं छ दस से गायत्री निकल पडी श द से विभक्ति निकल पडी हा ।

स्वयम्भू के अनन्त पुष्पद त त्रिभुवनस्वयम्भ धनपाल आदि कई अपभ्रश भाषा क जन कवि प्रबध काव्य प्रणेताओ मे अपना उत्तम स्थान रखते है। धनपाल की भविसयत्तकहा मार्मिक स्थलो की दृष्टि से बेजोड है। कवि ने बडी करुणा और सहानभति के साथ भविष्यदत्त का चरित्र अंकित किया है।

मुक्तक काव्यो मे पाहुडदोहा सावयधम्मदोहा वराग्यसार योगसार आदि रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। अपभ्र श मे गद्य साहि य के स दभ भी मिलते हैं। हि दी गद्य साहि य और हि दी भाषा के स्वरूप स्थिरीकरण के लिये अपभ्र श का यह गद्य-साहित्य एक अमू य वरदान है। इस दिशा में अ वेषण की आवश्यकता है।

हिन्दी साहित्य

हि दी साहित्य के क्षत्र मे जन कवियो की देन अमू य है। हि दी साहित्य के आदि काल का पुनर्संशोधन जैन कवियो की रचनाओ के आधार पर ही किया गया है। गौतमरासा सप्तक्षेत्ररासा संघपतिसमरारासा कच्छुलिरासा यशोधररासा धनपालरासा सम्यक्त्वरासा नेमीश्वररासा आदि रासा-ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। हिन्दी महाकाव्य के क्षत्र मे भूधरदास का पार्श्वनाथचरित जिनदास का श्रेणिकचरित दयासागर का धर्मदत्तचरित विनोदीलाल का श्रीपालचरित लक्ष्मीदास का यशोधरचरित विश्वभूषण भट्टारक का जिनदत्तचरित विमलसाह का वर्धमानचरित भारामल का

१ पउमचरिउ २।२३।६।

चारुदत्तचरित एवं श्रीपालचरित सेवाराम का हनुमतचरित आदि प्रसिद्ध काव्य हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में बनारसीदास भूधरदास आनन्दघन दौलतराम आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। पचीसी और बारहमासा साहित्य भी हिन्दी के लिये एक नई विधा है। राजुलबारहमासा, सीता बारहमासा अजनाबारहमासा प्रभृति बारहमासा-साहित्य महत्वपूर्ण है। चौबीसी पच्चीसी एवं बत्तीसी साहित्य-विधा भी जन कवियों की अपनी ही सूझ है। इन रचनाओ मे खण्डकाव्य के समस्त तत्व तो हैं ही पर विरह और हृदय की मार्मिक स्पन्दनशीलता भी वर्तमान है।

कन्नड-साहित्य

कन्नड-साहित्य मे मौलिक चेतना तरगित होती है। गम्भीर चिन्तन समुन्नत हार्दिक प्रसार एव गोदावरी और कावेरी के द्वन्द्व इस साहित्य मे मिलते हैं। ९ वीं शताब्दी में राष्ट्रकूट राजा नृपतुग के राज्यकाल से जैन कवियो ने कन्नड में काव्य रचना का श्रीगणेश किया है। कवि चक्रवर्ती पम्प ने कन्नड साहित्य मे एक ऐसे भव्य मन्दिर का निर्माण किया जिसकी कलाकृति उत्तरवर्ती कवियो के लिये आदर्श मार्ग बनी। आदिपुराण और भारत ये दोनों ही इनके प्रसिद्ध चम्पूकाव्य है। भारत मे काव्यतत्त्वो का प्राचुर्य है। इसमें कल्पना की उडान और मनोरम दृश्यो का चित्रण किसी भी भाषा के समालोचक के लिये अमूल्य वस्तु है। इस लोक प्रसिद्ध कवि की रामायण तो दक्षिण भारत का जनता का कण्ठहार ही है। ओड्ड्य कवि द्वारा विरचित कब्बिगरकाव इतिवृत्त वस्तु व्यापार वर्णन और दृश्य चित्रण की दृष्टि से बेजोड है। नयसेन ने धर्मामृत' नामक कथाग्रन्थ को रचनाकर सस्कृत एव कन्नड मिश्रित भाषा मे कन्नड-काव्य को एक नया ही रूप प्रदान किया है। महाकवि जन्न ने यशोधर चरित और अनन्तनाथचरित की रचना की है।

कर्णपार्य ने नेमिनाथचरित नेमिचन्द्र ने अर्धनेमिपुराण गुणवर्म ने पुष्पदन्तपुराण रत्नाकरवर्णी ने भरतेशवभव एव शतकत्रय लिखे है। कवि वर्णी का भरतेशवभव माधुर्य और सगीत तत्त्वमें गीति गोविन्द से भी बढ़कर है। इस ग्रथ की ४६ पंक्तियाँ दक्षिण भारत के एक निरक्षर भट्टाचार्य को भी याद है। महाकाव्य और गीतिकाव्य का ऐसा सयोग अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो सकेगा।

लक्षण ग्रन्थो में कविराजमार्ग छन्दोऽम्बुनिधि रतनकन्द आदि महत्वपूर्ण कन्नड जैन ग्रन्थ हैं। चन्द्रालोक और दण्डी के काव्यादर्श के अनुकरण पर कन्नड मे जनाचार्यो ने अलकार शास्त्रो का प्रणयन किया है। अतं स्पष्ट है कि कन्नड साहित्य की बहुमुखी अन्तश्चेतना को अभिव्यक्त करने में जैन साहित्यकारो का अमूल्य योगदान रहा है।

तमिल-साहित्य :

तमिल के पंचमहाकाव्यो में जीवकचिन्तामणि शिलप्पदिकारम और वलैयापति ये तीन जैनाचार्यों द्वारा लिखित महाकाव्य हैं। जीवकचिन्तामणि' काय मे तो विशाल है ही पर गुणों में भी सर्वोत्कृष्ट है। कल्पना की महत्ता शैली की सुन्दरता और प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण इस काव्य में बेजोड़ हैं। इसके रचयिता तिरुत्तक्कदेव ने प्रेम और सौन्दर्य के विविध रूपों का चित्रण किया है।

यशोधरकाव्य चूलामणि नीलकेशि उत्तम काव्य हैं। तमिल साहित्य में श्रेष्ठ व्याकरण ग्रन्थों का निर्माण जैन लेखकों द्वारा ही हुआ है। कुरलकाव्य तो तमिल-साहित्य में पंचम वेद माना गया है। नालडियार भी महत्वपूर्ण गीतिकाव्य है।

मराठी-साहित्य व अन्य साहित्य :

मराठी भाषा में जन कवियो ने शक सवत् ९ ३ से ही चनाए आरम्भ की हैं। जिनदास गुणदास मेघराज कामराज सूरिजन गुणनन्दि पुष्पसागर म द्रचन्द्र मह द्रकीर्ति विशालकीर्ति आदि मराठी जैन कवि प्रसिद्ध है। इसी प्रकार गुजराती राजस्थानी और बु देली में भी विविध विषयक साहित्य उपलब्ध होता है। विस्तार भय की दृष्टि से मैं यहाँ आँकडे उपस्थित करने मे असमर्थ हूँ।

हमे यह स्वीकार करते हुए तनिक भी सकोच नहीं होता है कि जन साहि य के अध्ययन और स्वाध्याय से कुछ समय के लिये सासारिक विषमताओ को भुला जा सकता है। पाठक के समक्ष आदश का ऐसा मनोरम चित्र उपस्थित होता है जिसमे वह अपनी कुत्सित वत्तियो म जीवन को परिष्कृत करने के लिये दृढ सकल्प कर लेता है। जीवन को परिष्कृत करने की जितनी क्षमता जन सा ि य मे है उतनी ही मनोरजन शक्ति भी वत्तमान है। अत एक सम्प्र ाय विशेष के कवि और लखको द्वारा निर्मित य विविध भाषा विषयक विशाल और समृद्ध साहि य मानव मात्र की सौ य पिपासा चारित्रिक उत्थान व जीवन निमाण के क ने म उपादय है। जन सा ि य स्रष्टाओ ने अख ड चत य आनन्दरूप आ मा को अपने अ तस म साक्षा कार किया और ि य मे उसी की अनुभूति को मूत्तरूप प्रदान कर सौदय के शाश्वत प्रकाश की रेखाओ द्वा ा व णो का चित्र अकित किया है।

वत्तमान मे इस साहि य के अ यताओ मे मुनि श्री जिनविजयजी मुनि श्री पु यविजयजी स्व ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी स्व प नाथूरामजी प्रेमी व बरिस्टर च पतरायजी जन ब्रह्म च शीतल जी जन आचाय जुगलकिशो मुख्तार प सुखलाल जी सघवी डा ही ालाल जैन डा ए एन उपाध्ये डा परशुराम लक्ष्मण वद्य ा एन वी वद्य प्रा व डी वेलणकर डा बिमलाचरण ला डा सा करि मुखर्जी डा वासुदवशरण अग्रवाल स्व प्रा ए चक्रवर्ती आचार्य कलाशचन्द्र शास्त्री प फूलच द्र जी शास्त्री स्व ा महे द्रकुमार यायाचाय प बेचरदास दोशी प्रो रवारीलाल जी काठिया ा यातिप्रसाद जी स्व ा कामताप्रसा जन डा नमिच शास्त्री डा रिमत्य भट्टाचाय आ ि वि ानो के नाम उल्लेख्य है।

यह सत्य है कि अभी तक जन साहि य पर जितना औ जसा काय हुआ है व बहुत ही अ प है। अत ससद के समक्ष मैं निम्न लिखित समस्याएँ प्रस्तुत करता । वि ान न समस्याओ पर यान देने की कृपा करें—

समस्याए

१ जन साहि य का अभी तक विषयानुसार इति ास न ी लिखा गया है अत क्रमबद्ध लिखे गये इतिहास की महती आवश्यकता है।

२ पारिभाषिक जन शब्दों के अथ जानने के लिये साधारण पाठक को कठिनाई का अनुभव करना पडता है। अत एक पारिभाषिक श द कोष की आवश्यकता है।

३ जन आचाय और कवियो के समय के सम्ब ध मे अभी तक विवाद चला आ रहा है। सम तभद्र और सिद्धसेन जसे विश्रुत कवि और दाशनिकोकी तिथियाँ ा प्राय अनिर्णीत समझी जाती हैं। अत जैनाचाय और कवियो की तिथियो की एक तालिका सवसम्मतरूप से प्रकाशित ह ना चाहिये।

४ अद्यावधि विविध ग्र थागारो म सहस्रो की सख्या मे अप्रकाशित ग्र थर न भरे पडे हैं अत राजस्थान की ग्र थ सूचियो के समान समस्त ग्र थागारो के ग थो की सविवरण ग्र थ-सूचियाँ

प्रकाशित होनी चाहिये। विविध विषयों पर यह ग्रन्थ-सम्पत्ति किस प्रकार विभक्त हुई है और किस प्रकार क्रमश भिन्न भिन्न काल-खण्डों में ग्रन्थों का निर्माण हुआ है यह जानना आवश्यक है।

५ संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश और हिन्दी के उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण काव्यों का एक विवरण प्रकाशित करने की परम आवश्यकता है जिन ग्रन्थों पर जिज्ञासु विद्वान् शोध-कार्य कर सकें।

६ प्रत्येक छह महीने पर साहित्य दर्शन कला राजनीति अर्थशास्त्र प्रभृति विषयों से सम्बद्ध कुछ ऐसे शीर्षक प्रकाशित करने की आवश्यकता है जिन पर शोध और अन्वेषण का कार्य किया जा सके। भारत मे सशोधन काय कई एक महाविद्यालयो विश्वविद्यालयों और संशोधन-सस्थाओं मे हो रहा है। परन्तु उसका विहंगम दृष्टि से अवलोकन करने में कठिनाइयाँ रहती हैं, जिनको दूर करना संशोधन-काय की प्रगति के लिए अत्य त लाभदायक होगा।

७ प्रमेयकमलमातण्ड अष्टसहस्री न्यायकुमुदचन्द्र और अनेकान्तजयपताका जैसे महनीय दाशनिक ग्रंथो की हिन्दी टीकाएँ प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

देश के नवनिर्माण और चारित्रिक विकास के लिये आधुनिक भारतीय भाषाओ मे जैन कथाओ के सार को लेकर अहिंसा सत्य सयम और त्याग के सिद्धान्त का निरूपण होने की आवश्यकता है। अत उपन्यास काव्य कथा कहानियाँ आदि नवीन शैली मे लिखा जाना चाहिये।

९ राम कृष्ण हनुमान आदि भारतीय धर्म-नेताओ के चरित जैन दृष्टि से हिन्दी एवं अंग्रेजी मे प्रकाशित होने की आवश्यकता है।

१० राजनीति अर्थशास्त्र मुद्राशास्त्र प्रभृति लोकोपयोगी जैन ग्रन्थो का सविवरण परिचयात्मक पुस्तिका के प्रकाशित होने की महती आवश्यकता है जिससे अन्वेषण करने वाले विद्वानो को उक्त विषय के जैन ग्रन्थो से सहायता प्राप्त हो सके। जिज्ञासु निष्पक्ष होने पर भी ग्रन्थो के ज्ञात न होने से यथार्थ स्थिति से अपरिचित रह जाता है।

११ मेरा यह विश्वास है कि बिहार का प्रामाणिक इतिहास जैन साहित्य के सम्यक अध्ययन के बिना अपूर्ण है। अत ससद के सदस्य जैन वाङमय से बिहार सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यो के साथ बिहार के प्राचीन ग्राम और उनकी आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के सम्बन्ध मे सन्दर्भ सहित तथ्य प्रस्तुत कर सकें तो बिहार राज्य के इतिहास के लिये बहुमूल्य सामग्री उपलब्ध हो जायगी। इसी प्रकार महाराष्ट्र गुजरात दक्षिण भारत एवं राजस्थान के सम्बन्ध मे भी प्रामाणिक तथ्य जैन साहित्य से सकलित किये जा सकते है।

मैंने एक सक्षिप्त रूपरेखा आप के सामने उपस्थित करने का प्रयास किया है। वाङमय अखण्ड और अद्वैत होता है। उसके साम्प्रदायिक भेद नही किये जा सकते। यहाँ जैन साहित्य कहने का मेरा आशय इतना ही है कि जो वाङ्मय जैनधर्म के उपासक कवियों आचार्यों और लेखकों द्वारा प्रसूत हुआ है वह जैन साहित्य है। वस्तुत यह साहित्य सौन्दर्य लालसा की पूर्ति एवं मानवता के निर्माण पथ मे वाल्मीकि व्यास कालिदास शंकराचार्य आदि विद्वानो के साहित्य के समान ही उपयोगी है।

मैंने आपका बहुत समय लिया। मैं आपको एवं ससद् के सदस्यो के लिये धन्यवाद देता हूँ जिन्होने मुझे यह अवसर प्रदान किया।

ज्ञान-देवता की जय। सर्वे सुखिनः भवन्तु।

६ जनवरी १९६५

स्वागताध्यक्ष

श्री सुबोध कुमार जैन, आरा

का

अभिभाषण

माननीय अध्यक्ष महोदय देवियो और सज्जनो !

मुझे इस मच से आपका स्वागत करते हु परम हष हो रहा है। गत वष मैंने इसी मच से श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा का हीरक जयन्ती महोत्सव के अवसर पर आपका स्वागत किया था। उस समय यहाँ एकत्र हुए विद्वानो ने जन साहित्य के महत्त्व का मूल्याकन किया नई दृष्टि से कार्य करने की आवश्यकता का अनुभव किया और साथ ही यह अनुभव किया कि नवलेखन को भी प्रश्रय मिलना चाहिये। अतएव भारतीय जन-साहित्य संसद् की स्थापना कतिपय साहित्य मनीषियो के सहयोग से सम्पन्न हुई है।

बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे इतिहास कला और जीवन साहित्य के आलोचनात्मक मूल्याकन की दृष्टि से प्राचीन जन वाङमय पर काय करने का शुभारम्भ पाश्चात्य विद्वानो ने किया। तब से अब तक इस परम्परा का अनुसरण करने वाले स्व श्री नाथूराम जी प्रेमी आचार्य जुगल किशोर मुख्तार आचार्य कैलाशचन्द्र शास्त्री प फूलचन्द्र शास्त्री आचाय चैनसुखदास डा ए एन उपाध्ये डा हीरालाल जैन डा ज्योति प्रसाद प्रो दरबारीलाल कोठिया डा कस्तूरचन्द्र कासलीवाल डा नेमिचन्द्र शास्त्री पं परमानन्द शास्त्री प के भुजबली शास्त्री सिद्धान्ताचार्य श्री अगरचन्द नाहटा स्व डा कामताप्रसाद आदि विद्वान् है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानो की आलोचनात्मक प्रणाली से जन साहित्य को जहाँ अनेक लाभ हुए वहाँ एक हानि यह भी हुई कि मौलिक रचनात्मक साहित्य धारा क्षीण-सी हो गई। यही कारण है कि इधर ५० ६० वर्षों मे ऐसी कोई प्रतिभा अवतरित न हुई जिसने संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश एव हिन्दी के प्राचीन आचार्यों के समान युगान्तरकारी किसी रचना को प्रस्तुत किया हो। हमारी दृष्टि मे जहाँ प्राचीन साहित्य के प्रकाशन और आलोचनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है वहाँ नव साहित्य सृजन की भी। महाकवि बनारसीदास और भूधरदास के समान हिन्दी मे काव्यात्मक रचना करने के युग की बहुत बडी माँग है। इसी प्रकार उपन्यास कहानी आदि का सृजन भी महाकवि रइधू के समान किसी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा होना चाहिये।

प्राचीन जैन आचार्यों एवं कवियों ने भारत की समस्त भाषाओं में विविध विषयक साहित्य का निर्माण रस अलंकार ध्वनि व्यंग्य आदि काव्य-गुणों की दृष्टि से किया है। प्राकृत भाषा में लिखित विमलसूरि का पउमचरिय अपभ्रंश में स्वयम्भू का पउमचरिउ एवं संस्कृत में लिखित रविषेण का पद्मचरितम् वाल्मीकि और तुलसी की कृतियों के समान हैं। इन तीनों भाषाओं में निबद्ध रामकथा चरित्र चित्रण की दृष्टि से अद्वितीय है। प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त गौणपात्रों के चरित्र भी विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार जिनसेन ने संस्कृत मे विमलसूरि ने प्राकृत मे और पुष्पदन्त ने अपभ्रंश में अमूल्य काव्य-ग्रंथ लिखे हैं। समाज संस्कृति राजनीति अर्थशास्त्र आदि विभिन्न विषयक विपुल सामग्री इन ग्रंथों में निहित है। हमें यह स्वीकार करते हुए थोड़ा-सा क्लेश हो रहा है कि जैकोबी एवं विटरनिट्ज़ के पश्चात् राम और कृष्ण कथा पर जैन कार्यों का मूल्यांकन नहीं हुआ है। प्राचीन भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त कन्नड में महाकवि पम्प की सर्वश्रेष्ठ रामायण है। पम्प ने पात्रों के चरित्रों को बड़े ही सुन्दर रूप मे प्रस्तुत किया है। दक्षिण की तमिल तेलगू कन्नड और मलयालम इन चारो ही प्रधान भाषाओं मे जैन साहित्य का बाहुल्य है। पम्प की रामायण और जन्न का कृष्ण-काव्य कन्नड साहित्य के लिये अमूल्य निधि है।

संस्कृत के ललित काव्यों मे धनञ्जय का द्विसन्धान-महाकाव्य वीरनंदि का चन्द्रप्रभचरित हरिचंद का धर्मशर्माभ्युदय असग कवि का वर्धमानचरित महासेन का प्रद्युम्नचरित अमरचन्द्र का बालभारत बालचन्द्र का वसन्तविलास वास्तुपाल का नरनारायणानन्द महाकाव्य कमलप्रभ का पुण्डरीकचरित नयचन्द का हम्मीर महाकाव्य सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू प्रधान हैं। आश्चर्य है कि साहित्य जगत् के बीच इन ग्रन्थों का प्रचार बहुत कम है।

गद्य काव्य के क्षेत्र मे वादीभसिंह की गद्यचिन्तामणि एवं धनपाल की तिलकमंजरी किसी भी दृष्टि से महाकवि बाण की कादम्बरी से कम महत्वपूर्ण नहीं। अलंकार छंद और कोश साहित्य के निर्माताओं मे स्वयम्भू धनञ्जय हेमचंद्र वाग्भट अजितसेन विजयवर्णी एवं श्रीधर को किसी प्रकार भूला नहीं जा सकता। विश्वलोचनकोश जिसका रचनाकाल १३ वीं सदी ईस्वी है आधुनिक कोशों की शैली मे लिखा गया है।

आत्मकथा लिखने की प्रणाली का श्रीगणेश करने वाले १६वीं शताब्दी के महाकवि बनारसीदास ने अर्धकथानक के रूप मे अपना ५५ वर्षों का प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत कर आत्म कथालेखन की शैली का आरम्भ किया है।

इसी प्रकार हिन्दी मे कोष लिखने की परम्परा का श्रीगणेश भी कवि बनारसीदास ने ही किया है। उनकी नाममाला हिन्दी का प्रथम कोश-ग्रन्थ है। हिन्दी साहित्य में जिस दोहा चौपाई वाली परम्परा का आरम्भ हुआ है उसका मूल अपभ्रंश के जैन कवियों की रचनाओं मे है। पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री प्रो जगन्नाथ राय शर्मा ने अपनी अपभ्रंश दर्पण नामक पुस्तक मे धनपाल कवि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जैन कवियों ने हिन्दी साहित्य के आदियुग को बहुत कुछ सामग्री प्रदान की है।

इधर के प्राकृत संबंधी शोध-कार्यों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट अवगत होता है कि पद्मावत का मूलरूप जिनहर्षगणिकृत रयणसेहरनिवकहा-काव्य है। इस काव्य की कथावस्तु से पद्मावत

अनुप्राणित ही नहीं है अपितु इसकी कथा और अनेक उपमा उत्प्रेक्षाओं को लेकर 'पद्मावत' लिखा गया है।

कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्राचीन आचार्यों की देन बेजोड़ है। विंटरनिटस्स ने अपने भारतीय वाङ्मय के इतिहास में इसे स्वीकार किया है।

अब तक ३ बड़ी कथाएं और लगभग ६ छोटी कथाए जन साहित्य मे उपलब्ध हो चुकी हैं। हिंदी के प्रमाख्यानक काव्य का निकास और विकास प्राकृत की प्रेम कथाओं से हुआ है। पादलिप्त की तरंगवइक I सघदास की वसुदेवहिण्डी उद्योतनसूरि की कुवलयमाला ऐसे सुन्दर प्रमाख्यानक प्राकृत काव्य हैं जिनसे हिंदी के प्रमाख्यानक काव्यों का सम्बन्ध सहज में ही जोड़ा जा सकता है।

ललित साहित्य के अतिरिक्त भूगोल और खगोल के क्षेत्र मे यतिवृषभ का तिलोयपण्णत्ति नेमिचंद्राचार्य का त्रिलोकसार सिंहसूरि का लोकविभाग आगम ग्रंथो के अंतर्गत परिगणित बृहत्क्षेत्र समास और लघुक्षेत्रसमास आदि ग्रंथ बेजोड़ हैं। इन ग्रंथो मे द्वीप और समुद्रो के अतिरिक्त ज्योतिर्लोक विभाग भवनवासिलोक विभाग अधोलोक विभाग व ऊर्ध्वलोक विभाग विशेष महत्वपूर्ण है। उक्त ग्रंथ हिंदी अ[illegible] ग्रजी [illegible] अनुवाद सहित प्रकाशित है [illegible] जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति [illegible] [illegible] प्रमुख [illegible]। खगोल और भूगोल सम्बन्धी अनेक भारतीय प्राचीन परम्पराएं इन ग्रन्थो मे प्रतिपादित [illegible]।

गणित ज्योतिष और खगोल भूगोल के क्षेत्र मे प्राचीन आचार्यों ने इस्वी पूर्व चौथी सदी से ही कार्य किया है। उक्त विषय का वर्णन सूर्यप्रज्ञप्ति च प्रज्ञप्ति गणितविद्या गणितसारसंग्रह गणितसूत्र ऋषिपुत्र मुनि व चित सिद्धांतशिरोमणि गणितशास्त्र गणितसार केवलज्ञानहोरा लोकविजय यंत्र आदि ग्रंथो मे निबद्ध है। डा श्यामा शास्त्री ने वेदांग ज्योतिष की भूमिका मे लिखा है—

ज्योतिष गणित एव खगोल भूगोल की दिशा मे जैनो ने विपुल साहित्य का निर्माण किया है। इस साहित्य के अध्ययन के बिना वेदांग ज्योतिष का अध्ययन अधूरा ही समझा जायगा। ज्योतिष-करण्डक टीकापूर्व मान्यताओं पर सम्यक प्रकाश डालता है।

राजनीतिक और अर्थशास्त्र संबंधी साहित्य मे भद्रबाहु एव हेमचंद्र की अर्हन्नीति सोमदेव का नीतिवाक्यामृत वादीभसिंहसूरि की क्षत्रचूडामणि तो उक्त विषय की स्वतंत्र रचनाए ही है। काव्य कथा एवं नाटक आदि मे उपलब्ध राजनीति और अर्थशास्त्र संबंधी सिद्धांत भी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं। डा मोतीचंद ने सार्थवाह नामक रचना मे जल और स्थल से होने वाले भारतीय व्यापार की पुष्टि मे लगभग एक सौ जैन ग्रंथो के उद्धरण प्रस्तुत किये है। गुप्तकाल में होने वाले जल वाणिज्य का यथार्थ लेखा जोखा समराइच्चकहा और जिनसेन के आदिपुराण मे पाया जाता है। डा वासुदेवशरण अग्रवाल ने सार्थवाह की भूमिका मे लिखा है कि जैन साहित्य की चूर्णियो और निर्युक्तियो से सार्थ और उनके माल के सम्बन्ध मे कई महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

आचार-मूलक प्राचीन साहित्य तो प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। मानव का नैतिक उत्थान करनेवाले सहस्रों सिद्धांत इन ग्रन्थों में वर्णित हैं। जिस साम्यवाद की खोज चर्चा की जा रही है उसका प्रथम उद्घोष तीर्थंकर महावीर ने २५०० वर्ष पूर्व किया था। जाति वर्ण एवं सम्प्रदाय भेद को भूलकर मानव के रूप में संगठित होने के लिये उन्होंने शंखनाद किया था। अर्थ-सम्बन्धी विषमताओं के कारण के निराकरण के लिये अपरिग्रहवाद एवं विचार-सम्बन्धी विषमताओं को दूर करने के लिये अनेकान्त या स्याद्वाद का प्रणयन इनके द्वारा हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि तीर्थंकर महावीर का यह साम्यवाद अध्यात्ममूलक आदर्श पर आधारित है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और राष्ट्रनायक नेहरू जैन और बौद्ध ग्रंथों मे प्रतिपादित साम्यवाद का ही अनुसरण करने का प्रयास कर रहे थे।

अध्यात्म तत्वज्ञान कर्मसिद्धांत विषयक साहित्य तो विपुल परिमाण में उपलब्ध है। यह जैन वाङ्मय की अमूल्य निधि है और प्राचीन जैन साहित्य का मूलस्रोत है। प्रथम शताब्दि मे तीर्थंकर महावीर के ६८३ वर्ष उपरान्त आचार्य भूतबलि पुष्पदन्त ने षटखंडागम की रचना की। इन आगमग्रन्थों की धवला जयधवला टीकाएँ वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य ने नवी शताब्दी मे कीं। पहली शताब्दी के महान् आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार आदि ग्रन्थ लिखे। ये सारे ग्रंथ प्राकृत मे हैं। आचार्य उमास्वामि ने सर्व प्रथम जैन वाङ्मय को संस्कृत सूत्रों में निबद्ध करके तत्वार्थसूत्र जैसे सर्वमान्य ग्रन्थ की रचना की। १ वीं शताब्दी मे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ति ने गोमट्टसार आदि ग्रन्थो की रचना की। जिस अणु और परमाणु शक्ति की आज चर्चा की जा रही है उसके सम्बन्ध मे ई पू की ४ ५ सदी से ही जैनाचार्य लिखते आ रहे है। वनस्पति शास्त्र तो इन आचार्यों का बहुत ही प्रिय विषय रहा है। कन्नड और संस्कृत इन दोनो ही भाषाओं मे दो प्राचीन वनस्पति कोश भी उपलब्ध है। इसी प्रकार दर्शन और न्याय शास्त्र मे स्वामी समन्तभद्र सिद्धसेन और अकलंकदेव की महत्वपूर्ण कृतियाँ उपलब्ध हैं।

विषय विस्तार होता जा रहा है। अत मैं उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन की पृष्ठभूमि मे कतिपय मौलिक आवश्यकताओं की ओर आज के साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ।

१ विषय क्रमानुसार जैनवाङ्मय का एक प्रामाणिक इतिहास लिखे जाने की आवश्यकता है।

२ वनस्पतिशास्त्र मुद्राशास्त्र व्यापार-वाणिज्य विषयक साहित्य का परिचय शीघ्र ही प्रकाशित होना चाहिये।

३ शास्त्रों में प्रतिपादित अणु-परमाणु शक्ति पर वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा अन्वेषण करने की आवश्यकता है।

४ ज्योतिष भूगोल गणित आयुर्वेद प्रभृति लोकोपयोगी ग्रन्थो के प्रकाशन के अतिरिक्त उक्त विषयों पर शोध एवं अन्वेषण कार्य होने चाहिये।

५ आचार-संहिता के अन्तर्गत जिन भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का निर्देश किया गया है उन पदार्थों पर वैज्ञानिक शोध-प्रणाली द्वारा तथ्यों का संकलन करना चाहिये।

६ साहित्य की किस विधा पर अब तक कितना कार्य सम्पन्न हुआ है इसका प्रामाणिक लेखा-जोखा सामने आना चाहिये। शोध की दिशा में यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि

किये गये कार्यों मे पुनरावृत्ति न हो। अतएव ससद् के मान्य सदस्य एक वर्ष के लिये शोध-संबंधी शीर्षकों की तालिकाए प्रस्तुत करें और उन तालिकाओ को शोध संस्थानों को भेजें।

इस प्रकार मैंने कतिपय आवश्यक समस्याओ की ओर आप का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा की है।

मा य अतिथियों ने यहाँ पधारने की कृपा का इसके लिये मैं स्वागत-समिति एव अपनी ओर से आभार यक्त करता हूँ। आप लोगो के आतिथ्य में भूल होनी हम से सम्भव हैं आशा है आप हमें उनके लिय क्षमा करगे।

मैं आज के अध्यक्ष एव सेमिनारो के अध्यक्षो सयोजको और उद्घाटन कर्त्ताओ के प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त मे स्वागत समिति के सभी सदस्यो को भी धन्यवाद देता हूँ क्योकि इस समारोह के आयोजन मे मुझे उनका सर्वाङ्गीण सहयोग मिला है।

अन्त मे मारा यन शुभकामना है कि यह साहित्य ससद् जन मन मे शुद्ध दृष्टि और शुद्ध ज्ञान द्वारा शुद्ध चारित्र का बीजारोपण करता रहे।

आरा
६ जनवरी १९६५।

स्वागताध्यक्ष

आचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री

का

वक्तव्य

जैन साहित्य का भारतीय साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैनाचार्यों ने समय की गति के अनुसार प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश और लोक-भाषाओं में उच्चकोटि के साहित्य की रचना के द्वारा भारतीय वाङ्मय के भण्डार को समृद्ध बनाने में पूरा-पूरा योगदान किया है।

भगवान महावीर की धर्म-देशना उस समय की लोक भाषा अर्धमागधी में हुई थी। १६ वीं शताब्दी के ग्रन्थकार श्रुतसागरसूरि के अनुसार अर्धमागधी भाषा में आधे शब्द मगध देशकी भाषा के थे और आधे शब्द अन्य सर्व भाषाओं के थे। इसी से उसे अर्धमागधी भाषा कहते थे। चूं कि भगवान महावीर की धर्म देशना का प्रधान स्थल मगध देश था अत उनके श्रोताओ मे मगधदेश की जनता का भाग अधिक होना स्वाभाविक है। शायद उसीके अनुपात से अर्धमागधी में मगध देश के शब्दों का बहुभाग था। भगवान महावीर की धर्मदेशना की यह विशेषता भी शायद उसीका परिणाम है कि सब श्रोता अपनी अपनी भाषा में उनके अभिप्राय को समझ जाते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भाषा एक माध्यम है और वह माध्यम ऐसा होना चाहिये कि जिसके द्वारा अधिक-से-अधिक श्रोता या पाठक लाभान्वित हो सकें—उस माध्यम के द्वारा प्रदर्शित विचार-धारा को सुगमता से हृदयंगम कर सकें। फलत महावीर के अनुयायी जैनाचार्यों ने किसी भाषा विशेष के आग्रह को कभी स्थान नहीं दिया और बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय की भावना के अनुसार जब जहाँ जिस भाषा की उपयोगिता और चलन देखा उसीको अपनी रचना का माध्यम बनाकर जनता का उपकार किया। इसी से जब भारत में संस्कृत वाङ्मय को प्राधान्य मिला तो प्राकृत भाषा के स्थान में संस्कृत-भाषा में ग्रन्थ रचना की और जब अपभ्रंश का विकास तथा विस्तार हुआ तो अपभ्रंश-भाषा में रचना की। संस्कृत भाषा के हिमायती विद्वानो ने तो अपभ्रंश को भ्रष्ट भाषा कहकर उसकी उपेक्षा ही कर दी थी। इसी से अपभ्रंश भाषा का अधिकांश साहित्य मात्र जैनाचार्यों की देन है।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जब मगध में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, तो जैनाचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु ने बारह हजार मुनियों के महासंघ के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया था और इस तरह दक्षिण के तामिल और कन्नड़ प्रदेश जैन साधुओं के आवास-स्थल बन गये थे। उस समय के जैन ग्रन्थकारों ने तमिल और कन्नड़ भाषा को अपनी ग्रन्थ-रचना का माध्यम बनाकर उन भाषाओं को समृद्ध किया और उन्हीं के द्वारा ऐसी लोक-विभूति प्राप्त की कि शताब्दियों तक दक्षिण प्रदेश जैनधर्म के केन्द्र बने रहे और अनेक राजवंश तक उससे प्रभावित हुए तथा उन्होंने जैनधर्म की अभ्युन्नति में योगदान किया। जैन साहित्य की एक विशेषता यह है कि वह प्रायः

आचार-सम्पन्न सन्तों की देन है। उन सन्तों महर्षियों ने शृङ्गार प्रधान काव्यों की भी रचना की है। किन्तु उनका शृंगार-वर्णन भी उद्दीपक नही है किन्तु उपशामक है। उसके पर्यवसान में प्रवाहित होने वाली शान्त रस की धारा कामुक के मन को भी निष्काम कर देती है। क्योंकि वह शृंगार रसिक हृदय की देन नही है किन्तु शान्त रस में निमग्न उन महर्षियो की देन है जा शृङ्गार रस के अनुभविता नहीं होकर भी उसके मर्मज्ञ थे। ऐसे ही एक जैनाचाय जिनसेन थे। वह बचपन से ही प्रव्रजित होगये थे। उन्होंने काव्यमयी वाणी में भगवान ऋषभदेव को लेकर महापुराण की रचना की। उसके शृङ्गारपरक वर्णनो को देखकर लोगो को उनके ब्रह्मचय मे सन्देह हुआ। जब यह बात आचाय के कानो तक पहुँची तो उन्होने एक दिन जन-समाज को एकत्र किया और शृङ्गार रस का ऐसा उद्दीपक वर्णन किया कि श्रोता मद विह्वल हो उठे किन्तु आचार्य के नग्न शरीर पर उसका रंचमात्र भी प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ। इ ही आचाय जिनसेन ने कविवर कालिदास के शृङ्गार प्रधान मेघदूत के पदो को लेकर वराग्य प्रधान पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना अपनी युवावस्था में की थी। मेघदूत की तरह उसकी समस्यापूर्ति रूप पार्श्वाभ्युदय काव्य भा काव्य शास्त्र की एक अमूल्य निधि है किन्तु जैन रचना होने के कारण विद्वानो का यान उस ओर नही जा सका है।

हमारे देश में साम्प्रदायिकता ने साहित्य क क्षत्र मे भी चौकाबन्दी कर रखा है। साहित्य को साहित्य की दृष्टि से देखने वाले विद्या रसिको की कमी है। इसीसे जन साहित्य एक तरह मे उपेक्षणीय सा रहा है। और उसका यथाथ मूल्याकन आज तक भी नही हो सका है। यदि ऐसा हुआ होता तो क्या क्षत्रचूडामणि जसा नीतिपूर्ण उद्बोधक सरल सरस काव्य रचना क्या विद्या रसिको के भी परिचय मे न आती। यदि वह जन रचना न होती ता उसे हितोपदेशकी-सी ख्याति अवश्य मिलती। यही बात सोमदेव के यशस्तिलकचम्पू के विषय मे भी है। उस कोटि की रचना संस्कृत वाङमय मे अत्यन्त विरल है। किन्तु फिर भी वह उपेक्षणीय है। ज्ञान के क्षत्र का इस चौकाबन्दी ने हमारा कम अहित नहीं किया है। किन्तु फिर भी ज्ञानियो के मनो से साम्प्रदायिकता का वह विकार जाता नही स्वतत्र भारत मे भी उसकी तूती बोलती है। उस तूती की ध्वनि को अनसुनी करने के लिये आवश्यकता है कि असाम्प्रदायिकता का डिंडिमनाद किया जाये जिसमें उसकी ध्वनि डूब जाये। किन्तु अभी ऐसा होने मे देर है। इसीसे हम लोगो को जन साहित्य को समुन्नत करने और प्रकाश मे लाने के लिये भारतीय जैन साहित्य संसद् की स्थापना करनी पडी है। इसके द्वारा हम जन साहित्य मे योगदान करन वाले उन सभी मनीषी लेखको तक पहुँचना चाहते हैं जो जैन साहित्य पर कुछ लिखते हैं या लिखने की भावना रखते है। हम उनका कठिनाइयो को दूर करने मे भी यथाशक्ति हाथ बटाना चाहते है और चाहते हैं कि विद्या रसिक जन जैन-साहित्य को भी भारतीय-साहित्य का एक अभिन्न अग मानकर उसे अपनावें और अपनी अमर लेखनी से उसके पृष्ठो को भी भूषित करें तथा उसके साथ यथार्थता का ही व्यवहार करें। खेद है कि कोई कोई लेखक अपनी अभिज्ञता मे कमी होने के कारण जैन-सम्मत विषयो पर लिखते समय गलत लिख जाते हैं। और उनकी उस गलती का फल जैन धम जैन साहित्य और जैन समाज को गलतफहमी के रूप में भोगना पड़ता है। आज भी स्याद्वाद को संशयवाद समझने वाले लेखक वर्तमान हैं और जैन धर्म को भगवान महावीर की देन तथा उसके उद्गम को केवल एक तात्कालिक

वैचारिक क्रान्ति का परिणाम बतलाने वाले तो अनेकों हैं। अच्छे-अच्छे भारतीय मनीषी भी उपनिषदों को केवल वैदिक ऋषियों की ही देन मानते हैं जो यथार्थ नहीं है। भारतीय तत्त्वज्ञान में श्रमण विचारधारा का योगदान वैदिक-विचारधारा से कम नहीं है। इन्हीं दोनों विचार-धाराओं के सम्मिश्रण और संघर्षण का परिणाम कतिपय उपनिषदों का तत्त्वज्ञान है जिनसे जैनधर्म की विचार-धारा का मेल खाता है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि जैन धर्म उन उपनिषदों से प्रभावित है, किन्तु वे उपनिषद् जैन धर्म की विचारधारा से प्रभावित हैं। जैन धर्म का सुनिश्चित उद्गम आज से तीन हजार वर्ष प्राचीन है। उस समय वाराणसी नगरी में जैनों के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। वह एक ऐतिहासिक महापुरुष थे केवल पौराणिक नहीं। उपनिषदों की रचना तो उनके पश्चात् ही हुई है। उनके समय में पञ्चाग्नि-तपस्या करने वाले वैदिक जन थे। तप श्रमणों की देन हैं वैदिकों की नहीं अग्नि-आहुति वैदिकों की देन है। इन दोनों का मिश्रण पञ्चाग्नि-तप है जो बतलाता है कि वैदिक ऋषियों ने यद्यपि श्रमणों की विचारधारा से प्रभावित होकर तप को अपनाया किन्तु फिर भी वे अग्नि को नहीं छोड़ सके थे। अत: तत्त्वज्ञान के विश्लेषण के लिये भी नवीन दृष्टिकोण की आवश्यकता है, उसके बिना सत्य तक पहुँचना कठिन है।

इतने शब्दों के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। और उपस्थित विद्वानों से आशा करता हूँ कि भारतीय जैन साहित्य संसद् मे योगदान करके वे अपने नैतिक कर्तव्य का ही पालन करेंगे।

आरा
६ जनवरी १९६५।

●●●

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

हिन्दी-विभागाध्यक्ष पटना विश्वविद्यालय

का

उद्घाटन भाषण

[साहित्य और कला संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए श्री शर्मा द्वारा दिये गये भाषण का संक्षिप्त सार]।

उपचार इस युग का धर्म है। इस धर्म का पालन करना आज आवश्यक है। मैं आज जिस संगोष्ठी का उद्घाटन करने जा रहा हूँ वस्तुत यह भी मेरी एक अनधिकारपूर्ण चेष्टा है। मैं जैन साहित्य और जैन कला का विशेषज्ञ नहीं हूँ पर आप लोगो के स्नेहवश ही यहाँ उपस्थित हुआ हूँ।

साहित्य का मूल व्यंग्य है। जिस साहित्य मे समाज और युग का व्यंग्यात्मक चित्रण रहता है वह साहित्य मेरी दृष्टि मे शाश्वत है। जीवन का सच्चा रूप साहित्यकार ही प्रस्तुत करता है। साहित्य मे सभी प्रकार की क्रिया प्रतिक्रियाओ का प्रतिफलन समवेत रहता है। जीवन को जितनी सूक्ष्मता से कवि कलाकार या अन्य साहित्यिक देखता है संभवत वैज्ञानिक उतनी सूक्ष्मता से नहीं। अत जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ और शाश्वतिक भावनाओ का अध्ययन साहित्य के आलोक मे ही संभव है।

जैन साहित्य गुण और परिमाण दोनो ही दृष्टियो मे महान है। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश कन्नड़ तमिल गुजराती मराठी राजस्थानी व्रजभाषा प्रभृति भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओ में जैनाचार्य और जैन मनीषियो ने साहित्य का सृजन किया है। जितने ग्रंथ अभी प्रकाश मे आये हैं उनसे सहस्र-गणित ग्रंथ भण्डारो में अप्रकाशित पड़े हैं। यदि सारा वाङ्मय प्रकाश मे आ जाय तो भारतीय वाङ्मय को अगणित अमूल्य मणि रत्न प्राप्त हो सकते हैं। हिंदी साहित्य के अध्ययन और ऐतिहासिक कालविभाजन में जैन साहित्य का बहुमूल्य सहयोग भुलाया नहीं जा सकता। यह स्मरणीय है कि हिंदी-साहित्य की आदिकाल सम्बन्धी सामग्री मे जैन मनीषियों की रचनाएँ सर्वाधिक हैं। अपभ्रंश के ग्रन्थो का मूल्य केवल भाषा की दृष्टि से ही नहीं है अपितु साहित्यिक तत्त्वो की दृष्टि से भी है। चरित काव्य की वास्तविक रूपरेखा का निर्धारण अपभ्रंश के चरित-ग्रन्थों के आधार पर किया जा सकता है। पौराणिक और चरित काव्य के बीच सीमा-रेखा खींचना सहज नहीं है पर स्वयंभू के पउमचरिउ पुष्पदन्त का महापुराण और रइधू का सुकोसल चरिउ इस प्रकार की रचनाएँ हैं जिनके अध्ययन से पौराणिक और चरित-काव्य की सीमा रेखा निर्धारित की जा सकती है।

जैन साहित्य का मूलाधार अनेकान्त-पद्धति है, जो विविध दृष्टिकोणों से सत्य को उपस्थित करती है। विचार-वैविध्य को एक धरातल पर प्रतिष्ठित कर समन्वयात्मक जीवन-मूल्यों का विश्लेषण ही इस पद्धति का उद्देश्य है। वस्तुतः सत्य का साक्षात्कार अनेकान्त-सिद्धान्त द्वारा ही किया जा सकता है। साहित्य-महार्णव के उदार विचार अनेकान्त-सिद्धान्त के आलोक में ही पनप सकते हैं। यद्यपि प्रारम्भ से ही जैन साहित्य जन क्रान्ति को अपनाता रहा है, तो भी इस साहित्य में लोक-प्रवृत्तियाँ पूर्णरूपेण वर्तमान हैं। जैन साहित्य के जन्म की कहानी ही क्रान्ति की कहानी है। जातिवाद वर्णवाद एव अन्य वाद-विवादों के वात्या चक्र को जैन मनीषियों ने बुद्धि की कसौटी पर कसकर 'स्याद्वाद' की शीतल धारा द्वारा अशान्ति का उपशमन किया है। लोक और परलोक दोनों का समन्वयात्मक विश्लेषण एवं विवेचन जैन साहित्य में पाया जाता है। मेरी दृष्टि से जैन साहित्य का महत्त्व निम्न लिखित पहलुओं से है —

१ भाषा की अपेक्षा

२ भाव विचारों की अपेक्षा

३ शान्त रस के व्यापक रूप के विश्लेषण की अपेक्षा

४ विधि-रचना विधान की अपेक्षा

५ ऐतिह्य तथ्यों की अपेक्षा

६ आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास-क्रम और स्वरूप को सम्यक प्रकार से अवगत करने की अपेक्षा।

साहित्य के निर्माण में जिस प्रकार की दृष्टि को अपनाया जाता है वही दृष्टि 'दर्शन' बन जाती है। अत किसी न किसी रूप मे साहित्य का दर्शन अवश्य पाया जाता है। यत साहित्य में अनिवार्यत दृष्टि और दर्शन का प्रतिफलन रहता है। जैन साहित्य का भी अपना दर्शन है। इस दर्शन के आधार पर जन साहित्य को साम्प्रदायिक नही कहा जा सकता है। साहित्य में कोई-न कोई सिद्धान्त वर्णित रहता है और यह सिद्धान्त ही उसका दशन बन जाता है। यदि हम जैन साहित्य को सिद्धान्त-भिन्नता के कारण साम्प्रदायिक कहें तो फिर वर्तमान समाजवादी साहित्य या सन्त-कवियो अथवा अन्य किसी भी काल-खण्ड के कवियों के साहित्य को भी साम्प्रदायिक मानना पड़ेगा। अत उक्त प्रकार के साहित्य में किसी न-किसी सिद्धान्त विशेष का विवेचन है। मेरा अभिमत है कि जैन साहित्य जीवन को समझने के लिए किसी भी साहित्य से कम मूल्यवान् नहीं है। जैन साहित्य के अध्ययन न करने का ही यह परिणाम है कि उसे शान्त रस के अस्तित्व के कारण ही साम्प्रदायिक कह दिया जाता है। यदि वस्तुत इस साहित्य का अध्ययन किया जाय तो शृङ्गार वीर करुण प्रभृति रसों की रचनाएँ कम नहीं हैं। स्वयंभू ने शृङ्गार की जो धारा बहाई है, वह क्या रीति-कालीन हिन्दी-कवियों से कम है? भक्ति के क्षेत्र में अपभ्रंश के कवि जोइन्दु और रामसिंह को किस प्रकार हीन कहा जा सकता है? कबीर की पारिभाषिक शब्दावली में निरंजन अवधूत प्रभृति शब्दों का मूल स्रोत अपभ्रंश की जैन रचनाओं में पाया जाता है। संस्कृत काव्य ग्रन्थों मे हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, वस्तुपाल का नरनारायणानन्द, महासेन का प्रद्युम्नचरित, वाग्भट का नेमिनिर्वाण, वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित, अमरचन्द्र का बालभारत एवं मुनिभद्र का शान्तिनाथचरित उच्चकोटि के महाकाव्य हैं। आश्चर्य यही है कि अभी तक इन काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन, अनुशीलन प्रस्तुत नहीं किया गया है। इन काव्यों में राष्ट्रीयता का विकास देश, नगर

और राष्ट्र के निरूपण के साथ सार्वजनीन समाज के चित्रण में उपलब्ध है। तीर्थंकरों का जीवन अंकित रहने पर भी आचार और जीवन-शोधन की काव्यात्मक प्रक्रियाएँ वर्णित हैं। यह ध्यातव्य है कि आचार का एक निश्चित सीमा के भीतर निरूपण पाया जाना सत् साहित्य का लक्षण है।

जैन कला के अवशेष आज भी अपना गौरव व्यक्त कर रहे हैं। मूर्ति चित्र और संगीत कला के क्षेत्र में जैनाचार्यों ने अद्भुत कार्य किया है। बौद्ध मूर्तियो के समान जन मूर्तियाँ विभिन्न मुद्राओं में भले ही उपलब्ध न हो पर उनका शान्त और वीतरागी स्वरूप दशक को अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेता है। लोहानीपुर से प्राप्त पटना म्यूजियम मे स्थित दो तीर्थंकरो की प्रतिमाओं की पालिश मार्य-काल की विशेषता को प्रकट कर ही हैं। ये मूर्तियाँ कला को दृ टि से बेजोड़ हैं। मथुरा सग्रहालय मे आयागपट्ट के अवशेष गुप्तकाल की कला सम्ब धी विशेषताओ को सहज मे व्यक्त करते हैं। भारत का ऐसा शायद ही म्यूजियम होगा जिसमे जन ताथकर और शासन दवियो की मूर्तियाँ संकलित न हों। उदयपुर के संग्रहालय मे स्थित अम्बिका का मूर्ति ९ १ वीं शताब्दी की कारीगरी का अनुपम उदाहरण है।

चित्रकला के क्षेत्र मे जैन मुनि और यतियो ने सचित्र पाण्डुलिपियो के माध्यम से काय किया है। आरा के ग्रन्थागार मे स्थित जन रामायण भक्तामर और तिलोयपण्णत्ति की सचित्र प्रतियाँ किसके मन को मोहित न करेंगी ? चित्रो की वेशभूषा और भाव भगिमाएँ इतनी सजीव और आकषक हैं जिससे स ज मे हो उनके शि प व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। रंगो की चटक और ताजगी को समय की धूलि भी धूसरित नही कर सकी है। संगीत पर संगीतसमरसार जैसी स्वतन्त्र रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। ततत अतत वितत जसी वाद्य ध्वनियो का निर्देश तत्त्वाथवार्तिक सर्वार्थसिद्धि प्रभृति ग्र थो मे पाया जाता है। सप्त स्वरो का आरोह एव अवरोह पुद्गल की विभिन्न पर्यायो मे विवेचित है। अत जैन साहित्य और कला भारताय वाङमय के ददीप्यमान र न हैं।

साहित्य-संगोष्ठी के प्रधान पद से दिया गया

अभिभाषण

श्री पं० फूलचन्द्र शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य,

वाराणसी

मगल भगवान् वीरो मगलं गौतमो गणी।
मगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

इसके पहले कि आज की संगोष्ठी के मुख्य विषय जैन साहित्य कला को स्पर्श करूँ भारतीय जन साहित्य संसद् के प्रमुख सस्थापक श्री डा० नेमिचन्द्र जी एम ए ज्योतिषाचाय तथा उनके पृष्ठबलस्वरूप प्रमुख सहयोगी श्री बाबू सुबोधकुमार जी जन के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त कर देना अपना प्रधान कतव्य समझता हूँ।

आज से लगभग एक वर्ष पूर्व इसी स्थान पर देश विदश में प्रसिद्ध यहाँ की प्रमुख संस्था श्री जैन सिद्धान्त भवन (ओरियटल रिसच इ स्टीच्य ट) के हीरक-जयन्ती महोत्सव के निमित्त हम सब यहाँ उपस्थित हुए थे। उस आयोजन की मनोरम झाँकी आज भी मेरे चित्त पटल पर अकित है। इसमे सन्देह नही कि भाई नेमिचन्द्र जी इस सस्था के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। उनका अध्ययनशीलता सूझ-बूझ और सतत कायरत रहने की क्षमता का ही यह सुपरिणाम है कि एक वष बाद लगभग उसी रूप में पुन यहाँ उपस्थित होने का सुअवसर मिला है। इन दोनों सम्मेलनो में यदि कोई अन्तर है तो इतना ही कि वह उक्त संस्था का हीरक-जयन्ती महोत्सव था और यह भार ीय जैन साहित्य संसद् के प्रथम अधिवेशन के रूप म हो रहा है। वस्तुत ऐसे सम्मेलनो की अपनी महत्ता है। जैन परम्परा के प्राचीन गौरव को प्राप्त करने की दिशा में जहाँ हम प्रयत्नशील हैं वहाँ उसे मूर्तरूप देने की दृष्टि मे देश विदेश के विविध नगरो मे सुनियोजित ढंग से ऐसे सम्मेलनो का होते रहना आवश्यक ही नहीं उपयोगी भी है इसे हमें नहीं भूलना चाहिए।

आज की इस संगोष्ठी का मुख्य विषय जैन साहित्य कला' है। इसके अध्यक्ष श्री डा० ज्योतिप्रसाद जी जैन एम ए एल-एल-बी० पी एच डी लखनऊ हैं। उन्हें इस संगोष्ठी का अध्यक्ष होने के लिए सादर आमन्त्रित किया गया इसी से उनकी महत्ता स्पष्ट है। किन्तु कुछ आवश्यक कार्यवश इच्छा होते हुए भी वे इस सम्मेलन मे उपस्थित न हो सके यही कारण है कि कार्यकर्त्ताओं के अनुरोधवश उस स्थान की पूर्ति मुझे करनी पड़ रही है।

डा० सा० का मुद्रित अभिभाषण सबके हाथ में है। अन्य उपयोगी विषयों और सूचनाओं के साथ उसमें प्रकृत विषय को मार्मिक शब्दों में स्पर्श किया गया है। उससे भारतीय परम्परा में

जैन साहित्य और कला की क्या महत्ता और उपयोगिता है इसे हृदयंगम करने मे पर्याप्त सहायता मिलती है। उसके प्रकाश में इस समय मैं जो भी भाव व्यक्त कर रहा हूँ उन्हे मात्र उसका पूरक ही समझना चाहिए।

भारतवर्ष सदा से धर्मप्राण देश रहा है। आज भी इसकी यह विशेषता विश्व के लिए स्पृहा का विषय बनी हुई है। वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने इससे अनुप्राणित हो राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से अकिंचन इस देश की उस विशेषता को विश्व के मानस पटल पर अंकित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर उसे सब दृष्टियो से पुन सप्राण बनाने का प्रय न किया है। यदि वर्तमान भारतवर्ष को अतीत कालीन भारतवर्ष बन कर रहना है तो यहाँ की जनता और सरकार को उस ओर पुन विशष ध्यान देना होगा जिसके कारण भारतवष अभी तक समुन्नत सस्कृति का प्रमुख केन्द्र बना हुआ है। मेरे विचार से साहित्य और कला ये दो ऐस विषय हैं जो हमें भारतवष के प्राचीन गौरव की याद तो दिलाते ही हैं साथ ी इनकी मह ा को ठीक तरह से समझने पर हमे अपना कर्तव्य-पथ निश्चित करने मे भी सहायता मिलती है।

प्रयाग का संगम प्रसिद्ध है। यह गगा यमुना और सरस्वती का सगम माना जाता है। इसी प्रकार भारतवर्ष भी लगभग ढाई हजार वष से जन वदिक और बौद्ध धर्म का संगम बना हुआ है। इसके पूव भारतवष मे मुख्यरूप से दो ही धर्म प्रचलित थे—जन धम और वदिक धर्म। जनधर्म यह श्रमण-धर्म का नामान्तर है। यद्यपि वर्तमान काल म बौद्ध धम सवथा स्वत त्र धम माना जाता है परन्तु प्राचीन तथ्यो पर दृष्टिपात करने से विदित हाता है कि यह धर्म भी श्रमण परम्परा का एक परिवर्त्तित रूप है।

जैन धर्म की दृष्टि से विचार करने पर प्रवृ या यह मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड पर आधारित न होने से इसका अनादि होना उतना ही सुसगत है जितना लोक मे अवस्थित आ मादि प्र येक द्रव्य का अनादि होना सुसंगत है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल स्वभाव बदलता नही। यदि उसमे किसी प्रकार का विकार दृष्टिगोचर हाता है तो वह मात्र अपने से विरुद्ध स्वभाववाली वस्तु के संयोग करने का ही दुष्परिणाम होता है। उसी प्रकार वस्तु स्वभाव के आश्रित प्रवत्त हुए जन धम की मूल प्रकृति अनादि है। यदि उसमे कही किसी प्रकार का विकार (भेद प्रभेद) दृष्टिगोचर होता है तो उसे मात्र विरुद्ध स्वभाववाली अ य वस्तुओ (वस्त्रादि) के बुद्धिपूवक किये गये या अबुद्धि पूर्वक हुए संयोग मे हानि न मानने का ही दुष्परिणाम समझना चाहिए।

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाश में जन धर्म का स्वभाव धर्म के अनरूप जितना धार्मिक साहित्य उपलब्ध होता है वह कितना प्राचीन है इसकी सीमा नही बाँधी जा सकती क्योकि साहित्य की आत्मा शब्द रचना नहीं है उसमे जिन तथ्यो का निदश किया गया है उनकी यथार्थता है। स्पष्ट है कि काल्पनिक साहित्य ही मात्र सादि होता है यथार्थता को स्पर्श करनेवाला साहित्य नही। कोई ग्रन्थ किसी काल मे लिखा गया एतावता उसमें प्ररूपित तथ्य मात्र उस काल की देन है, यह नहीं स्वीकार किया जा सकता। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन धर्म का जितना भी धार्मिक साहित्य है वह शब्द-रचना की दृष्टि से काल-विशेष की मर्यादा को लिये हुए होकर भी वस्तुत: अनादि है। जैन आगम में तीर्थंकरों को अर्थकर्ता और गणधरो को ग्रन्थकर्ता इसी अभिप्राय से लिपिबद्ध किया गया है।

इतना सब होने पर भी जब हम ग्रन्थरूप में लिपिबद्ध हुए वर्तमान साहित्य की दृष्टि से विचार करते हैं तो हमें वह मात्र उन्हीं महर्षियों की कृति नहीं मालूम देती, जिन्होंने उसे प्राकृत संस्कृत या अन्य किसी भाषा में लिपिबद्ध किया है। उदाहरणार्थ—आचार्य कुन्दकुन्दके समयप्राभृत को लीजिए। इसे लिपिबद्ध करते हुए वे इसकी प्रथम मंगल-गाथा में कहते हैं—मैं उस समयप्राभृत को कहूँगा, जिसे केवली और श्रुतकेवली ने कहा है।' यह एक उदाहरण है समग्र जैन साहित्य की रचना का स्रोत क्या है यह इससे जाना जा सकता है। जिस प्रकार अन्य धर्मों के साहित्य में विविधता दृष्टिगोचर होती है वैसी विविधता जैन धर्म के साहित्य मे दृष्टिगोचर नहीं होती इसका मुख्य कारण यही है कि अनुश्रुति के रूप मे वह सुदीर्घ प्राचीन काल से एकरूप में चला आ रहा है। वर्तमान युग की दृष्टि से विचार करने पर उसका प्रारम्भ भगवान् ऋषभदेव से मानना सर्वथा उचित ही है एक तीर्थंकरके बाद दूसरे तीर्थंकरके काल मे उसकी अर्थरूप से प्ररूपणा होकर ग्रन्थरूप से उसका पुनरुद्धार होता रहा है इतना अवश्य है।

यह जैन धर्म के साहित्य का सामान्य पर्यालोचन है। वर्गीकरण की दृष्टि से वर्तमान में उपलब्ध साहित्य चार भागो मे विभक्त है—प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जैन धर्म का प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश कनडी हिन्दी आदि विविध भाषाओं में लिपिबद्ध जितना साहित्य है उस सबका समावेश उक्त चार प्रकार के वर्गीकरण में हो जाता है। इसके सिवाय जैनाचार्यों ने राजनीति छन्द अलंकार काव्य नाटक आदि विविध विषयों पर भी विपुल मात्रा मे मौलिक रचनाएँ की है। यह सब इस देश की अनमोल निधि है। आध्यात्मिक जीवन के निर्माण मे तो इससे सहायता मिलती ही है। नैतिक जागरण का भी यह प्रहरी है। यह इसकी प्रकृति है। अतीत काल से अब तक भारतवर्ष को आध्यात्मिक दृष्टि से जो स्वरूप मिला है उसे प्रमुख रूप से इसी की देन समझना चाहिए।

कला की दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि जैन धम को केन्द्र-बिन्दु बनाकर इस दिशा मे अब तक जो भी कार्य हुआ है उसमें अपनी शिक्षाओ के अनुरूप विशिष्ट दृष्टिकोण को भुलाया नही गया है। मानव जीवन के निर्माण मे साहित्य का जो स्थान है, कला का उससे कम नहीं है। यह वह दृश्य है जो तत्काल आबाल-वृद्ध मानव-मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। अभी कई वर्ष पूर्व मैं देवगढ़ गया था। पहाड़ी पर तीर्थंकरों की मूर्ति के दर्शन करते समय एक बालक मेरा साथ दे रहा था। कला की दृष्टि से वहाँ ऐसी अगणित मूर्तियाँ दृष्टि-पथ में आवेंगी जिन्हें देखते ही मालूम पड़ेगा कि ये हमसे कुछ कह रही हैं। एक मूर्ति के दर्शन कर भाव विभोर हो बालक हमसे पूछता है—पण्डित जी! यह देव मूर्ति क्या कह रही है? पहले तो जिज्ञासा भाव से मैंने उसकी ओर देखा। उसके बाद उसकी बढ़ती हुई जिज्ञासा को जानकर मैंने उससे कहा—बेटा! यह देवमूर्ति कह रही है कि तुम दूसरे को अपना जानकर उसकी सम्हाल में तो सदा से लगे हो पर कभी अपने को जानकर उसकी सम्हाल में लगे? आओ हमारे पास हम तुम्हें बतलावेंगे कि अपने को जानकर उसकी सम्हाल कैसे की जाती है।'

यह एक घटना है। इससे विदित होता है कि कला को मूर्तरूप प्रदान करने में जैन दृष्टिकोण क्या रहा है। ललित कला के नाम पर रतिक्रिया करते हुए या इसी प्रकार के दूसरे दृश्यों को जैनों ने विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया, यह वहाँ सच है, वहाँ समाज-निर्माण को केन्द्र में रखकर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने मूर्तिकला, चित्रकला, भित्तिकला पुस्तकला आदि में प्राण रख दिया

है इसमें सन्देह नहीं। षटखण्डागम में प्राचीन काल में स्थापनानिक्षेप के प्रसंग से कला के कितने प्रकार प्रचलित थे इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जैसे लकड़ी में उकीरे गये विविध कलात्मक रूप चित्रकर्म वस्त्रों को बुनते समय अंकित किये गये विविध मनोहारी दृश्य लेप द्वारा बनाये गये विविध दृश्य पर्वत-गुफा आदि मे बनाई गइ देवमूर्तियाँ आदि अलग से पत्थर को गढ़कर बनाई गई देवमूर्तियाँ आदि गृहों का निर्माण करते समय बनाई गइ शिक्षाप्रद विविध देवमूर्तियाँ या दृश्य विविध आकारो को लिये हुए गृहो का निर्माण हाथी दांत पर उकेरे गये विविध दृश्य तथा भांडे-बर्तनों में अंकित किये गये विविध रूप। (वेदना खण्ड कृति अनुयोगद्वार पु ९)।

क्रोधी मानी मायावी और लोभी मनुष्य का आकार कसा विकृत हो जाता है इसकी शिक्षा देने के अभिप्राय से भी तीर्थंकरा के मन्दिरो आदि मे विविध चित्र बनाये जाते थे। वे कैसे होने चाहिये इसका विचार करते हुए कसायपाहुड पुस्तक एक मे बतलाया है—जिसके ललाट पर तीन बली पड गई हैं और जिसने भौंहृ चढ़ा ली हैं ऐस रुष्ट मनु य का चित्र बनाना क्रोधी मनष्य का चित्र है। उद्धत रूप स मनष्य को चित्रित करना मानी मन य का चित्र है। भीतर कुछ छिपा रहा है ऐसे भाव के साथ मनष्य को चित्रित करना मायावी मन य का चित्र है और पूरे धन आदि का स्वयं स्वामी बन जाना चाहता है ऐस भाव के साथ लम्पट मनष्य का चित्र बनाना लोभी मनष्य का चित्र है।

जैनो के द्वारा निर्माण कराये गये तीर्थंकरो के मन्दिरो शिलाखण्डा और गिरि-गुफाओ आदि मे शिक्षाप्रद ये विविध दृश्य आज भी दशको को दृष्टिगोचर होगे। ाप प्राचीन किसी भी जैन मन्दिर में चले जाइए। वहाँ एक ओर भित्ती पर आप देखेंगे कि एक बडा भारी बडका वृक्ष है। उसे हाथी जडमूल से उखाडना चाहता है। दो सफेद और काले चूहे उस टहनी को काट रहे हैं जिस टहनी के सहारे लटका हुआ एक मनुष्य ऊपर मधु के छत्त से बाच-बाच मे टपकने वाली मधुकी एक-एक बूद का स्वाद ले रहा है। जहाँ वह मनुष्य लटका हुआ है व ी नीचे जमीन मे बने हुए एक खड्ड मे पाँच विकराल साँप उसकी ओर देख रहे है कि कब वह गिरे और उसे निगल जायें। मनुष्य की बाजू में आकाश मे एक विमान है। उसमे बठा हुआ मनुष्य उसे समझा रहा है कि तू इस मधुकी बूद के स्वादको छोड मेरे पास आजा अन्यथा तेरा निस्तार नहीं है। किन्तु वह मनुष्य मधु बूद के उस क्षणिक स्वाद में ऐसा मस्त है कि उस सदुपदेष्टा की बात को बिल्कुल ही अनसुनी कर रहा है।

जैनो द्वारा निर्मित समग्र कलाका यह अनोखा शिक्षप्रद रूप है। ऐसी शिक्षप्रद कलाको जनोंने उतना ही प्रोत्साहन दिया है जितना कि उन्होने सर्वजीवानुग्रहकारी साहित्यके निर्माण की ओर ध्यान दिया है। जनता इस ओर कितना ध्यान देती है इसकी उन्हे चिंता नही वे अपने इस लोकोपकारी कर्तव्य पथ पर सदा से चलते आये हैं और चलते रहेगे। तीर्थंकरो और सतो की यही शिक्षा है।

मैंने आपका बहुत समय ले लिया। फिर भी आपने मेरी बात ध्यान से सुनी इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।

●●●

साहित्य-कला संगोष्ठी

का

अध्यक्षीय भाषण

डा० श्री ज्योतिप्रसाद जैन

विद्वद्बन्धुओ !

आज का युग अत्यन्त द्रुतगामी है। कभी अब से सौ वर्ष पूर्व ही बैलगाडी ऊँट गाडी-घोड़ा गाडी आदि से सुगमतया मनुष्य का काम चल जाता था किन्तु आज तो वाष्पयन्त्र चालित स्थलयान और जलयान भी पुराने पड गये और उनकी गति अत्यन्त मन्द प्रतीत होती है। जल और स्थल पर तो मनुष्य विजय पा ही चुका था वह अब अन्तरिक्ष विजय की चेष्टा कर रहा है। पृथ्वीतल का प्रत्येक भाग तो उसके लिये अत्यन्त संकुचित सुगम एवं सुलभ हो ही गया है। सहस्रों मील की यात्रा कुछ ही घण्टो मे अनायास सम्पादित की ही जा सकती है। वह तो सौरमण्डल के अन्य ग्र० उपग्रहो तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है। यातायात के इन अत्यन्त द्रुतगामी साधनों ने इस पृथ्वीतल पर विद्यमान मानव जगत् को एक परिवार सरीखा बना दिया है। विश्व के किसी भी भाग मे होनेवाली क्रियाओ प्रतिक्रियाओ के प्रभाव से उसके दूसरे भाग के निवासी अछूते नहीं रह पाते। विभिन्न देशो जातियों एवं संस्कृतियो के इस निरन्तर एव निकटतर सम्पर्क ने मनुष्य के दृष्टिकोण को विशाल बना दिया है और उसे स्व अस्तित्वसंरक्षण के हित में सम्पूर्ण विश्व की पृष्ठभूमि मे स्वयं का मूल्यांकन करने के लिये बाध्य कर दिया है। आज यदि कोई कूपमण्डूक बना रहना चाहे तो यह असम्भव है। यदि वह वैसी चेष्टा करता है तो उसका अस्तित्व खतरे मे पड जाता है।

युग की यह द्रुतशीलता व्यस्तता एवं व्यापक-विस्तार जीवन के प्राय प्रत्येक क्षेत्र में लक्षित होते हैं। ज्ञान विज्ञान का भी जैसा प्रसार एवं विस्तार इस समय हो रहा है वैसा शायद पहले कभी नहीं हुआ था। प्राय प्रत्येक विषय में अभूतपूर्व शोध खोज अन्वेषण अनुसंधान तथा विपुल एवं विविध साहित्य का निर्माण और प्रकाशन तेजी के साथ हो रहा है। कोई नवीन सामग्री तथ्य या अध्ययनीय विषय प्रकाश में आने भर की देर है, उस पर कार्य करनेवालों की कमी इस देश में ही नहीं विदेशों में भी नहीं है।

लगभग डेढ़-सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष के बाहर के लोग प्राय यह भी नहीं जानते थे कि जैन-धर्म और संस्कृति नाम की कोई स्वतन्त्र सत्ता है। स्वयं भारतवर्ष में भी पारसी, यहूदी मुसलमान आदि की तो बात ही क्या, शैव-वैष्णव आदि तथा कथित हिन्दू भी उसके स्वरूप एवं वैभव से प्राय अनभिज्ञ थे। तदनन्तर लगभग एक-सौ वर्ष की शोध, खोज, गवेषणा एवं अध्ययन से,

जिसका बहुभाग श्रेय युरोपीय प्राच्यविदो को है, यह प्रमाणित कर दिया कि इस देश की अपनी प्राचीन संस्कृति वैदिक परम्परा-मात्र से उद्भूत ब्राह्मणीय (तथाकथित हिन्दू) सस्कृति ही नहीं है वरन् एक अन्य भी अद्य एतद् देशीय सांस्कृतिक धारा है जो पर्याप्त समथ समृद्ध व्यापक एवं सजीव है और जो कदाचित् उक्त ब्राह्मणीय धारा से भी प्राचीनतर है। इस श्रमण संस्कृति के पुरस्कर्ता श्रमण तीर्थंकर थे। भारत के आद्य मानववंशी आर्यजन और विद्याधरवंशी नाग ऋक्ष यक्षादि उनके अनुयायी थे। उसमे विकास भी होता रहा काल-दोष से विकार भी होते रहे और उन विकारों का समय-समय पर परिमार्जन भी होता रहा। ईस्वीपूर्व प्रथम सहस्राब्द के प्रथम पाद के अन्त (लगभग ७५ ई पू) तक इस श्रमण परम्परा की मौलिकता एव एकसूत्रता प्राय अक्षुण्ण बनी रही प्रतीत होती है। उसके उपरान्त उसमे से कई उपधाराएँ फूटनी आरम्भ हुई। इनमें से आजीवक आदि जो प्रमुख थी वे भी अल्पाधिक समय के उपरान्त शुष्क एव समाप्त हो गईं। सर्वाधिक प्रभावक एव स्थायी उसकी बौद्धनामक उपधारा रही। प्रथम ६ ७ शताब्दियों मे वह इस देश मे द्रुतवेग से फला। दो तीन सौ वर्ष पर्यन्त सर्वाधिक प्रभावशाली भी रही। तदुपरान्त उसकी अवनति भी वैसे ही द्रुतवेग से हुई और १ वीं ११ वी शताब्दी मे यहाँ वह नामशेष भी हो गई किन्तु इस बीच भारत के बाहर एशिया के प्राय अन्य सभी देशों मे वह पूर्ण तरह छा गई। उसी श्रमण-सस्कृति की मूलधारा का प्रतिनिधित्व जैन सस्कृति चिरकाल से करती आई है। उसने अपनी मूलधारा मे से उपयुक्त उपधाराओं का निकलना देखा। उनकी प्रतिद्वंद्विता को सहन किया ब्राह्मणीय परम्परा के साथ क्रिया प्रतिक्रिया एव आदान प्रदान भी किया अनेक विषम परिस्थितियो को पार किया आन्तरिक फूट भी देखी और अनुयायियो की संख्या मे भी विशेष कर दो-तीन सौ वर्षों मे पर्याप्त ह्रास देखा तथापि अपने प्रवाह को अद्यावधि अविच्छिन्न बनाये रखा और अपने मूल रूप एव मौलिक मूल्यों को प्राय अक्षुण्ण रखा।

यह तथ्य भी प्रमाणित हो चुका है और इसकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक पुष्टि होती जाती है कि जैनों का तत्त्वज्ञान दार्शनिक चिन्तन लोकोत्तर अध्यात्म व लोकोन्नायक आचार शान्तिपूर्ण अहिंसक जीवन दृष्टि विपुल विविध साहित्य भंडार और कला वैभव इस देश की किसी भी अन्य परम्परा की अपेक्षा हीन कोटि का अथवा उपेक्षणीय नहीं है वरन् यह कि यदि उनका समावेश एवं समुचित अध्ययन नहीं किया जाता है तो समग्र भारतीय धर्म दर्शन आचार विचार ज्ञान विज्ञान इतिहास-पुरातत्त्व साहित्य और कला का अध्ययन अपूर्ण अधूरा और सदोष रहता है और उसका सही मूल्यांकन हो ही नहीं सकता।

प्रारंभ मे यूरोपवासियों द्वारा पूर्वीय (एशियाई) देशों का जो सांस्कृतिक अध्ययन चालू हुआ वह प्राच्य विद्या (ओरियंटल स्टडीज या ओरियंटलॉजी) कहलाया। भारतवर्ष मे उक्त प्राच्य विद्या ने शनै शनै भारतीय विद्या (इंडोलॉजी) का रूप ले लिया। और अब उक्त भारतीय विद्या के एक महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग के रूप में जैनविद्या (जैनोलॉजी) स्पष्ट से स्पष्टतर होती हुई अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर चुकी है। इसके स्वयं अपने अनेक अंग एवं पक्ष हैं और उनमें से प्रत्येक मे अध्ययन का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत होता चला जा रहा है। आज भारतवर्ष के विभिन्न विश्वविद्यालयों मे ही नहीं यूरोप और अमरिका के भी अनेक विश्वविद्यालयों मे जैनाध्ययन एक स्वीकृत विषय बन चला है और अनेक स्नातक जैनोलॉजी के विभिन्न अंगों से सम्बद्ध विषयों पर शोध खोज और अनुसंधान कर रहे हैं। जैनों की कई शोध-संस्थाएँ तथा कई जैन

विद्वान् व्यक्तिगत रूप से भी इस शोध-कार्य में यथाशक्य सहायक हो रहे हैं—इस प्रकार के लगभग एक दर्जन देशी-विदेशी शोधकर्ताओं से स्वयं मेरा सम्पर्क चल रहा है। इस प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि जैनों में पुरानी परिपाटी के शास्त्रीय पंडितों की परम्परा समाप्तप्राय है। जो विद्यमान हैं उनमें से दो-चार अपवादों को छोड़कर शेष प्राय एकाङ्गी हैं और समय की गति से बहुत पिछड़ गये हैं। किसी-किसी विषय में उनका अध्ययन अच्छे-से-अच्छे आधुनिक विद्वान् से भी अधिक गहन गंभीर और तलस्पर्शी हो सकता है किन्तु उनकी सङ्कीर्ण मनोवृत्ति सीमित अध्ययन-परिधि कदाग्रह एव अहम् उन्हें आधुनिक युग की शोध विधा के लिये अनुपयुक्त एव अनुपयोगी बना देते हैं। यह प्रसन्नता का विषय है कि गत दश-पन्द्रह वर्षों में नवीन शैली एवं विधा के अनुसार विभिन्न विश्वविद्यालयों के तत्त्वावधान मे विधिवत् सफल शोध काय करके और डाक्टरेट की उपाधि से विभूषित होकर अपने मे एक-डेढ दर्जन के लगभग विद्वान् तैयार हो गये हैं। इन विद्वानों की अध्ययन पिपासा अभी अतृप्त है संस्कृति-संरक्षण और उसके प्रसार की उत्कट लालसा है शोध-काय मे होनेवाली—विशेष कर जैन विषयो से संबद्ध—कठिनाइयों एव बाधाओ का उन्हे अनुभव है और इस बात की भा कटु प्रतीति है कि अत्यन्त परिश्रम समय एवं मनोयोग की आहुति देकर जिस साहित्य का उ होने निर्माण किया है करते हैं या कर सकते हैं उसको उत्तम प्रकाशन के रूप में देख पाना कितना दुष्कर है। शोध-कार्य एव विशेषाध्ययन के लिये उपयुक्त एवं पर्याप्त संदर्भ-ग्रन्थों सग्रहालयो पुस्तकालयो और विशेषज्ञो की भी अनिवाय आवश्यकता है।

अतएव इ ही सब उद्देश्यो से प्ररित होकर अभी कुछ मास पूर्व इस भारतीय जैन साहित्य ससद् की स्थापना हुई है। ससद् के नाम से यह भारत के जन पुस्तक-लेखको की एक ट्रेड यूनियन-सी प्रतीत होती है किन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, इसका यह रूप नहीं है और न वैसा कोई उद्दश्य। इसका घोषित लक्ष्य तो जन संस्कृति के संरक्षण एव प्रसार के हित मे जैनाध्ययन को अधिकाधिक प्रगतिवान् बनाना उसमे शोधकाय करनेवाले विद्वानो को दिशा दर्शन सहायता सहयोग आदि प्रदान करना आवश्यक एवं तदुपयोगी साहित्य का निर्माण करना-कराना और उसके उपयुक्त प्रकाशन की व्यवस्था करना है। इसकी नीति साम्प्रदायिक भी नहीं है। वस्तुत जन विद्या दिगम्बर श्वेताम्बर स्थानकवासी तारणपन्थी या तेरापन्थी मात्र नही है—वह समग्र जैन विचार धारा साहित्य इतिहास पुरातत्त्व और कला को समाविष्ट करती है। अतएव यही आशा की जाती है कि यह संसद् जैन विद्या एव जैनाध्ययन मे समग्र रूप से निरपेक्ष एव समदृष्टि रखेगी और इस क्षेत्र मे काय करनेवाले सभी विद्वानो से चाहे वे किसी भी जैन सम्प्रदाय के अनुयायी हो अथवा देशी या विदेशी अजैन हो सम्पक और सहयोग स्थापित करेगी तथा इस क्षत्र में हुए एवं किये जानेवाले समस्त काय और प्रवृत्तियों का पूर्णतया लाभ उठायेगी।

अपने इस प्रथम अधिवेशन के लिये ससद् ने जो आरा का उवर क्षेत्र चुना है वह भी अकारण नहीं है। यत आरा के निकट राजगृह और पावापुर पवित्र तीर्थस्थल हैं। राजगृह तो कुशाग्रपुर पञ्चशैलपुर आदि नामों से प्रसिद्ध है। इस अति प्राचीन महानगरी का जैन-संस्कृति के साथ अटूट सम्बन्ध है। बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ का यह जन्मस्थान रही है इसीके निकटस्थ वन-पर्वतो मे उन्होने तपस्या की और केवलज्ञान प्राप्त किया। २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ के तीर्थ में यह नगरी प्रतिनारायण जरासंध की राजधानी थी और कई सौ वर्ष-पर्यन्त उसके वंशजों ने यहाँ राज्य किया। सातवीं शती ईसापूर्व के लगभग यहाँ शैशुनाग वंश की स्थापना हुई। अन्तिम

तीर्थङ्कर भगवान महावीर के समय में इस महानगरी का शासक उसी वंश का महाराज श्रेणिक बिम्बिसार था। वह भगवान महावीर का अनन्य भक्त एव श्रावकोत्तम हुआ। उसकी पट्टरानी महारानी चेलना, जो भ महावीर की मौसी भी थी उनके श्राविका मघ की नेत्री हुई। श्रेणिक के अभयकुमार आर्द्रकुमार अजातशत्रु-कुणिक आदि पुत्र भी भगवान के परम भक्त थे। बिम्बिसार और अजातशत्रु के समय से ही राजगृह के मगध राज्य ने भारतवष के प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य का रूप लेना प्रारम्भ किया। उस काल (६ठी शती ई पू) मे यह महानगरी न केवल भारतवर्ष का एक सवमहान् राजनीतिक केन्द्र बन रही था वरम् सवमहान् सास्कतिक केन्द्र भी बन गई थी। उस युग के सभी विचारक और धर्मप्रचारक यहाँ एकत्र हाते थे और अपने अपने मन्तव्यों का प्रचार करते थे। उस काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना भी इसी स्थल पर घ ी—ईसापूव ५५७ को श्रावण कृष्ण प्रतिपदा दिनाक १ अगस्त को प्रात काल इसी महानगरी के विपुलाचल पर निग्रन्थ ज्ञातिक पुत्र (निगठनातपुत्त) भ वर्द्धमान महावीर ने जो श्रमण परम्परा के प्रत जैनो के अन्तिम तिर्थङ्कर थे सवप्रथम अपना धमचक्र प्रवतन किया और उनके इन्द्रभूति गौतम आदि गणधर शिष्यो ने उनके उपदेशो का सार लेकर ऐतिहासिक जन वाङ्मय के ग्रन्थ प्रणयन का ७० नम किया। अस्तु वतमान मे उपलब्ध जन धम दशन साहित्य और कला का ऐतिहासिक स्रोत अन्तिम वार इसी परम पुनीत स्थल से प्रवाहित हुआ था। उसी सास्कृतिक स्रोत का संरक्षण करने एव उसे प्रवहमान रखने के उद्देश्य से स्थापित ससद का प्रथम अधिवेशन विहार की इस पुण्य भूमि मे सवथा उपयुक्त ही है। प्रस्तुत आरा नगर शिक्षा संस्कृति एव साहित्य निर्माण की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नही है।

संसद ने अपने अधिवेशन का जो य दा विद्वद्गोष्ठियो (समिनारा) का रूप दिया है वह भी सर्वथा समीचीन है और उसके स्वरूप एव उद्देश्या क अनुरूप है। प्रथम गोष्ठी जन साहित्य इतिहास और पुरातत्त्व से सबद्ध है और दूसरी जन दशन आचार एव अध्यात्म से।

जैन साहित्य इतिहास और पुरातत्व विभाग के अ तगत नियोजित प्रस्तुत गोष्ठी का आज का विवेचनीय विषय है—जनो का असाम्प्रदायिक साहित्य और कला। इस शीषक से ऐसा ध्वनित होता है कि मानो जनो का समस्त साहित्य और कला मुख्यतया साम्प्रदायिक ही हैं और उनमें यदि कुछ ऐसा है जो साम्प्रदायिक नही है वही यहाँ अपेक्षित है।

जैन साहित्य अथवा जैन कला का यह साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक जैसा विभाजन कुछ विचित्र-सा लगता है विशेषकर जब कि भारत की अन्य धार्मिक परम्पराओं—ब्राह्मणीय (शैव वैष्णवादि तथाकथित हिन्दू) बौद्ध मुसलमान सिक्ख ईसाई पारसी आदि के साहित्य अथवा कला में प्राय वसा विभेद नही किया जाता। अब तो हिन्दू कला बौद्ध कला मुस्लिम कला जैसे नाम भी बहुत कम प्रयुक्त किये जाते हैं और युगानुसारी—प्राचीन भारतीय कला पूर्वमध्यकालीन भारतीय कला मध्यकालीन भारतीय कला उत्तरमध्यकालीन भारतीय कला आधुनिक भारतीय कला—नामो का ही प्राय प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी क्षेत्रीय या प्रादेशिक नाम यथा—उत्तर भारतीय दक्षिण भारतीय पूर्वी पश्चिमी अथवा गुजराती बगाली आदि अथवा आर्य द्रविड आदि भी प्रयुक्त होते हैं। विशिष्ट राजवशो के नाम से भी कला-शैलियो का सृजन किया जाता है। यथा— मौर्यकालीन या मौयकला शुङ्गकला शक कुषाण कला गुप्त कला चालुक्य-कला चोल-कला होयसल कला मुगल-कला आदि। इस प्रकार साहित्य भी युगानुसारी—

प्राचीन, मध्यकालीन आदि, अथवा भाषावार—प्राकृत, संस्कृत, कन्नड, तमिल, आदि, अथवा विषयवार—दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक, काव्य, तर्क, छन्द, व्याकरण, कोष, कथा, इतिहास पुराण आदि विशेषणों के साथ पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य या वाङ्मय के साथ से ही उल्लेखित किया जाता है। तब इस संसद् ने जैन साहित्य और कला के क्षेत्र में साम्प्रदायिक भेद की कल्पना क्यों की ? इसके भी कारण है —

भारतीय साहित्य एवं कला के उदय विकास वर्णन, इतिहास मूल्यांकन आदि से सम्बद्ध जितने ग्रन्थ लिखे गये वे प्रारम्भ में यूरोपीय विद्वानों द्वारा ही लिखे गये। उन विद्वानों ने साम्प्रदायिक असाम्प्रदायिक जैसा कोई विभेद नहीं किया या तो प्रमुख धार्मिक परम्पराओं—हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि के आधार से अथवा प्रसिद्ध राज्यवंशों के आधार से या फिर विभिन्न युगों के आधार से ही विवेचन किया। किन्तु उसके उपरान्त इन विषयो पर जो विपुल साहित्य आये दिन प्रकाश में आ रहा है भले ही उसका आधार उपर्युक्त पाश्चात्य कृतियाँ ही अधिकतर हैं वह अधिकांशत जैनेतरों विशेषकर तथाकथित हिन्दु धर्मियो द्वारा रचा जा रहा है। इन लेखकों को न जाने क्यों हिन्दू साहित्य और कला को चाहे वह कितना ही धार्मिक या साम्प्रदायिक क्यो न हो—असाम्प्रदायिक अथवा केवल भारतीय साहित्य और कला कहने की और जैन बौद्धादि के, विशेष कर जैनों के साहित्य और कला को सेक्टेरियन या साम्प्रदायिक कहने की कुटेव पड गई है। वेद स्मृति, पुराण, रामायण महाभारत दार्शनिक सूत्र सब भारतीय असाम्प्रदायिक साहित्य हैं और प्राचीन जैनों द्वारा रचित लौकिक साहित्य भी धर्म विशेष का साम्प्रदायिक साहित्य है। शिव विष्णु और सूर्य के मंदिर भारतीय कला के नमूने हैं किन्तु जैन मन्दिर स्तूप निषद्या आदि जैनों की धार्मिक कला है। आश्चर्य की बात है कि वही रामचरित वाल्मीकि की रामायण या तुलसीदास के रामचरितमानस के रूप मे तो असाम्प्रदायिक है, सर्वश्रेष्ठ काव्य है और भारतीय साहित्य का अमूल्य रत्न है किन्तु विमलसूरि का प्राकृत पउमचरिय रविषेण का संस्कृत पद्मचरित स्वयंभू की अपभ्रंश रामायण पम्प की कन्नड रामायण आदि साम्प्रदायिक या सेक्टेरियन ग्रन्थ है और शुद्ध साहित्य की दृष्टि से उनके मूल्याङ्कन की कोई आवश्यकता ही नही। पार्श्वाभ्युदय एक साम्प्रदायिक कृति है और मेघदूत एक श्रेष्ठ लौकिक ग्रंथ है ? संस्कृत हिन्दी आदि किसी भी भारतीय भाषा के किसी भी आधुनिक साहित्यिक इतिहास को उठाकर देखलें प्रथम तो उसमें जैन लेखको और उनकी कृतियो का बहुत कम उल्लेख प्राप्त होगा जो होगा भी वह सदोष अपूर्ण एवं भ्रामक और बहुधा इस टिप्पण के साथ 'जैन साम्प्रदायिक'। बनारसीदास के नाटक समयसार को एक नाटक और अर्धकथानक' को एक साम्प्रदायिक धर्म-ग्रन्थ के रूप में उल्लेख हुआ हमने देखा है। कबीर की रचनाएँ साम्प्रदायिक नहीं है और जोइन्दु या रामसिंह की शुद्ध साम्प्रदायिक हैं ? इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। प्राय: यही स्थिति कला के क्षेत्र में है।

वस्तुत:, भारतवर्ष की ही नहीं प्राय: समस्त सभ्य संसार को आधुनिक काल से पूर्व का जितना भी साहित्य है और जितनी भी कलाकृतियाँ है वे अधिकांशत लक्ष्य या अलक्ष्य रूप से धर्माश्रित ही हो रही हैं। मुसलमानों के आने के पूर्व इस देश के विभिन्न युगों एवं भागों में ब्राह्मण (हिन्दू), जैन और बौद्ध ये ही तीन प्रधान धार्मिक परम्पराएँ थीं। उस समय तक के समस्त भारतीय साहित्य और कला का सृजन उन्हीं के अनुयायियों ने किया था। जनता के सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष इन तीनों में से ही किसी-न-किसी के परम्परागत अथवा नव-दीक्षित भक्त होते थे। किन्तु जनसाधारण

का समस्त जीवन मात्र श्रम पर ही केन्द्रित नहीं था—अधिकांश तो इहलौकिक ही था। उनके लौकिक जीवन की आवश्यकताएँ आकांक्षाएँ इच्छाएँ कामनाएँ और प्रवृत्तियाँ भी प्रायः समान ही थीं। उनके प्रबुद्ध नेता और विचारक जन जीवन के स्पदन के अनुभव से अछूते नहीं रह सकते थे। अतएव उन्होंने जो साहित्य-सृजन किया वह जन जीवन के उत्थान और कल्याण को ही नहीं उसकी सन्तुष्टि एवं रंजन को भी दृष्टि में रखकर किया। उनके कलाकारों द्वारा कलाकृतियों के निर्माण में भी ये ही तीनों दृष्टियाँ प्रेरक रहीं। यही कारण है कि उस काल की तीनों ही परम्पराओं के साहित्य और कला में और तदुत्तर काल में भी हिन्दुओं और जनों के (मध्यकालीन) साहित्य और कला में जन-सामान्य की भावनाएँ और आदर्श परिलक्षित होते हैं। उनकी कृतियों पर उनके अपने-अपने धार्मिक संस्कारों आदर्शों विचारों एवं मूल्यों की छाप तो पड़ती ही थी और इसी कारण उनमें परस्पर अन्तर भी लक्षित हुए। किन्तु एतावतमात्र से एक साहित्यिक की कलाकृति लौकिक या असाम्प्रदायिक कहलाये और दूसरी धर्मविशेष से सम्बद्ध शुद्ध साम्प्रदायिक—यह एक विचित्र बात है।

इस वस्तुस्थिति का कारण यही हो सकता है कि वर्तमान जनों की संख्या तथाकथित हिन्दू धर्मियों की संख्या का लगभग एक प्रतिशत रह गई है। भारतीय संघ की पूरी जनसंख्या की अपेक्षा वह और भी कम है। उनकी शक्ति और प्रभाव भी उसी अनुपात में पर्याप्त न्यून है। इस पर यह छोटा सा समाज कई सम्प्रदायों में बँटा हुआ है जिसमें परस्पर यथेष्ट सौहार्द एवं एकोहृदयता का भी प्रायः अभाव दृष्टिगोचर होता है। विविध विषयों के वर्तमान प्रामाणिक जन लेखकों की संख्या भी प्रायः नगण्य है। यदि प्रतिवादरूप कभी कभी कोई कुछ लिखता भी है तो वह नक्कारखाने में तूती की आवाज होकर रह जाता है।

अस्तु विवक्षित विषय पर विचार करने के लिये कुछ मौलिक भ्रान्त धारणाओं के निरसन का प्रयास आवश्यक है जो निम्नोक्त तथ्यों को हृदयंगम करने और कराने से हो सकता है—(१) जैन धर्म जिस श्रमण परम्परा का इतिहास काल के प्रारम्भ के पूर्व से ही अविच्छिन्न सजीव एवं सफल प्रतिनिधित्व करता रहा है वह विशुद्ध भारतीय परम्परा है अत्यन्त प्राचीन है वह मानव परम्परा है अवैदिक प्रायः है और संभवतया वैदिक धर्म एवं सभ्यता के उदय के पूर्व से ही विद्यमान है। (२) इतिहास-काल में प्रारम्भ से लेकर उत्तर मध्यकाल पर्यन्त जैन धर्म का प्रचार प्रसार सम्पूर्ण देश में उसके समस्त वर्गों एवं जातियों में था—कभी और कभी अधिक और कहीं और कभी कम किसी किसी युग और प्रदेशों में तो सम्पूर्ण जनसंख्या का एक तिहाई से भी अधिक जैनों का अनुपात रहा है और यदि शूद्र आदि परिगणित एवं पिछड़ी जातियों एवं आदिम निवासियों को छोड़ दिया जाय तो तथाकथित हिन्दू द्विजों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) की अपेक्षा वह अनुपात पर्याप्त अधिक रहा है। (३) जैनों की जो अत्यल्प संख्या (लगभग ३ लाख) वर्तमान में रह गई है उसका कारण उनकी संख्या में होनेवाला वह ह्रास है जिसका आरम्भ मध्यकाल के प्रारम्भ में हो गया था और जिसका वेग गत १ वीं और १९वीं शताब्दियों में अत्यधिक बढ़ा। इस ह्रास का कारण शैवों वैष्णवों लिंगायतों मुसलमानों और ईसाइयों की कृपा दृष्टि रही है जिनकी सबकी संख्या जैनों के मूले पर ही पर्याप्त बढ़ी है। (४) विशुद्ध ऐतिहासिक काल (६ ई पू) से पूर्व की अनुश्रुतियाँ एवं ऐतिहासिक परम्पराएँ विशेष कर श्रमण धारा से सम्बद्ध जैनों ने उसी प्रकार सुरक्षित रखी हैं जिस प्रकार वैदिक परम्परा के अनुयायियों ने अपनी परम्परा को सुरक्षित रखा है।

(५) ऐतिहासिक भारतीय साहित्य एवं कला का प्रारम्भ एवं विकास जैन बौद्ध और तथाकथित हिन्दुओं ने ईसापूर्व प्रथम सहस्राब्द में प्राय साथ-ही-साथ समान उत्साह एवं मनोयोग के साथ किया। (६) जैन साहित्य की मौखिक परम्परा वेदों की रचना के बहुत पूर्व भ० ऋषभदेव के समय तक पहुँचती है। उनका ग्रन्थ प्रणयन कम-से कम गौतम गणधर (लगभग ५०७ ई पू०) तक और लिखित साहित्य की परम्परा भी ४थी ३री शती ई० पूर्व तक पहुँचती है। उसके पूर्व हिन्दुओं और बौद्धों की भी तत्तत परम्पराए नहीं पहुँचती (७) कला के क्षेत्र में यदि सिन्धुघाटी की प्रागऐतिहासिक एवं विवादास्पद कला-कृतियों को छोड भी दिया जाय तो भी स्तूपों चैत्यो पर्वतीय गुफाओं, देवमन्दिरो मूर्तियो आदि का निर्माण जैनों ने पहिले प्रारम्भ किया उसके बाद ही बौद्धो और हिन्दुओ ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। (८) जैन पुरातत्त्व एवं जैनो का विविध कला-वैभव इस देश के कोने-कोने में व्याप्त है और वह प्राय सभी युगो और शैलियो का प्रतिनिधित्व करता है। (९) विभिन्न भाषात्मक रसमय एवं विविध विषयक विपुल साहित्य देश के विभिन्न जैन शास्त्र भंडारों में अभी भी उपलब्ध है उसका बहुभाग अभी भी अप्रकाशित है एवं अल्पप्रचारित है। (१) जन जीवन को स्पर्श करने के उद्देश्य से ही जन भाषाओ—प्रादेशिक भाषाओ मे प्रचार करने एवं साहित्य-सृजन करने मे जैन समस्त भारतीयो में अत्यंत प्राचीन काल से लेकर वतमान पर्यन्त सर्वाग्रणी रहे हैं।

इस दशसूत्री को ध्यान मे रखते हुए जैनो द्वारा रचित एव ज्ञात साहित्य को यदि उन अजन लेखको की दृष्टि से ही देखा जाय तो इसे धार्मिक और लौकिक दो वर्गों में स्थूल रूप से विभाजित किया जा सकता है। धार्मिक वग के अन्तर्गत मंत्र-तंत्र पूजा पाठ प्रतिष्ठा-ग्रन्थ व्रत अनुष्ठानादि मुनिचर्या लोकालोक वणन एव शुद्ध तत्वज्ञान संबंधी रचनाएँ आती हैं। उसमे आगम और आगमिक साहित्य को जो नियुक्ति चूर्णि भाष्य वत्ति टीका पंजिका टिप्पण आदि रूप व्याख्या साहित्य से अत्यन्त समृद्ध एवं विपुल है, गर्भित किया जा सकता है। किन्तु इस साहित्य मे भी प्रसगवश अगणित सास्कृतिक ऐतिहासिक भौगोलिक तथा अन्य लौकिक तथ्य प्राप्त होते हैं जो तथाकथित असाम्प्रदायिक अथवा लौकिक ज्ञान विज्ञान के विकास एवं इतिहास के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते है। इन दोनो प्रकार के साहित्य के अतिरिक्त जितना अन्य जन साहित्य है जो पर्याप्त विविध एवं विशाल है उसे प्राय सबको असाम्प्रदायिक कहा जा सकता है। पुराण पुरुषो के जितने चरित ग्रन्थ हैं, उनमें जहाँ-कहीं प्रसंगवश जैन तत्त्वज्ञान आचार लोकालोक कालचक्र धार्मिक क्रियाआ आदि का वर्णन है उन्हें छोडकर शेष कथाभाग रुचिकर लोकरंजक एवं तत्कालीन लोकदशा एवं संस्कृति का परिचायक है। महाकाव्य खण्डकाव्य गीतिकाव्य सुभाषित चम्पू नाटक आदि विभिन्न साहित्यिक विधा के आश्रय से रचा गया यह साहित्य अन्य तथाकथित भारतीय असाम्प्रदायिक साहित्य के पूर्णतया समकक्ष है। स्वतंत्र एवं फुटकर जैन कथा साहित्य का बहुभाग लोक-कथाओ से समन्वित है। जनों की स्तुति-स्तोत्र आदि भक्तिपरक रचनाएँ भावुकता एवं भावप्रवणता मे अन्य समकोटि साहित्य जैसी ही लोकोपयोगी हैं। दर्शन एवं न्यायशास्त्र विषयक जन दार्शनिक ग्रन्थ भारतीय चिन्तन के अध्ययन के लिये उसी प्रकार उपयोगी एवं असाम्प्रदायिक हैं जैसे कि न्याय-सांख्य वैशेषिक योग मीमासा, वेदान्त आदि दर्शनों से सम्बद्ध ग्रन्थ है अथवा इंडियन फिलॉसफी पर लिखे जानेवाले आधुनिक ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त तर्क छन्द, व्याकरण कोष अलंकार काव्यशास्त्र इत्यादि विषयों पर संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश, कन्नड, तमिल हिन्दी आदि भाषाओ में रचित जैन साहित्य की पुष्ट

असाम्प्रदायिक माना ही जायेगा। इसी प्रकार गणित ज्योतिष भूगोल-खगोल सामुद्रिक चिकित्सा शास्त्र—मनुष्यो का ही नहीं पशुओं का भी पदार्थ विज्ञान पशु पक्षि-शास्त्र रत्नपरीक्षा, सूपसार शिल्प-शास्त्र संगीत शास्त्र वाणिज्य शास्त्र नीति अर्थशास्त्र ऐतिहासिक जीवन-चरित्र आत्मचरित इतिहास-ग्रन्थ इत्यादि कौन ऐसा विषय है जिस पर उन युगो मे किसी अन्य परम्परा के विद्वानो ने लिखा और जना ने न लिखा हो। जैनो द्वारा इन विषयो पर रचित साहित्य शुद्ध असाम्प्रदायिक हैं साथ ही पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एव प्रामाणिक भी।

वास्तव मे जिसे असाम्प्रदायिक साहित्य कहना चाहिये वह अपने सम्प्रदाय को छोड़कर अन्य सम्प्रदायो क विषय पर रचित साहित्य है और उसमे भी जैन विद्वानो ने ब्राह्मण-परंपरा के षड्दर्शनो पर ग्रन्थ रचे ब्राह्मण और बौद्ध दार्शनिक ग्रथो का टीकाएँ लिखी जनेतरो द्वारा रचित व्याकरण-कोषादि तथा काव्य ग्रन्थो की भी सुप्रसिद्ध टीकाएँ रची। महाकवि कालिदास को यदि मल्लिनाथसूरि जैसा जन टीकाकार न मिलता तो शायद उसका वह प्रसिद्धि न हो पाता जो हुई। अनेक महत्वपूर्ण अजैन ग्रथ जैन भडारो और जैन टीकाकारो की कृपा से हो सुरक्षित रह पाये। आधुनिक युग में भी सकडो जैन विद्वानो ने विशुद्ध लौकिक विषयो पर वैज्ञानिक एव कलात्मक साहित्य-सृजन किया है और कर रहे है।

जहाँ तक जैन का प्रश्न है विशुद्ध असाम्प्रदायिक धर्मनिरपेक्ष या लौकिक कला जो जन साधारण या व्यक्तिविशेष के रंजन अथवा उपयोग के लिये हो उसका तो जैन भी उसी प्रकार निर्माण करते और कराते रहे हैं जैसा कि अन्य जन। किसी नरेश ने यदि नगर निर्माण किया किसी ने दुर्ग या प्रासाद बनवाया या जन हित म कूप वापी तडाग कुआ बाध पुल आदि बनवाये तो यदि वह जैन था तो उसकी ये कृतियाँ जैन नहीं हो जाती वह हिन्दू या बौद्ध था तो वे हिन्दू और बौद्ध नही हो जाती। बडे बड प्रतापी जैन नरेश और सम्राट हुए है उन्होने इन सब वस्तुओ का निर्माण किया है किन्तु उन्हें किसी भी धार्मिक परम्परा स सम्बद्ध करना अनुचित है। शेष समस्त कृतियाँ प्राय धर्माश्रित हो होती थी चाहे किसी भी परम्परा से वे सम्बद्ध क्यो न हो। अतएव जिन्हे जैन कलाकृतियाँ कहा जाता है उनमे से जैनो द्वारा निर्मापित स्तूप चैत्य गुहामंदिर लेण देवालय मडप विहार या मठ अथवा सास्कृतिक अधिष्ठान निषद्याएं मानस्तंभ आदि स्थापत्य कला के और अर्हन्तो अथवा तीर्थङ्कर विशेषो की प्रतिमाएँ शासनदेवताओ यक्ष यक्षणियो अन्य जिन भक्त देवी देवताओ तथा उपासक उपासिकाओ की मूर्तियाँ पुराण कथाओ ऐतिहासिक घटनाओ या लोक जीवन संबंधी दृश्यो के प्रस्तराङ्कन अन्य नानाविध मूर्त अलङ्करण जिनमे जीवजगत—पशुपक्षी आदि वनस्पतिजगत—फलपुष्प वृक्ष आदि अथवा प्राकृतिक नदी सरोवर पर्वतादि तथा अनेक प्रतीक आदि उत्कीर्ण किये गये है जैन मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण हैं। विभिन्न कालो एव प्रदेशो में प्रचलित विविध शैलियो में इन कलाकृतियो का निर्माण हुआ है। कलाकार जैन भी होते थे और अजैन भी किन्तु जिस उद्देश्य से और जिसकी प्रेरणा से उक्त कृति का निर्माण करना होता उसका वे ध्यान रखते ही थे। लोक प्रचलित रुचियो एव शैलियो को भी वे अपनाते थे जो आपत्ति योग्य स्थल या प्रसंग नहीं होते वहाँ वे कला मे अपनी स्वतंत्रता भी प्रदर्शित करते। अतएव जिन प्रतिमाओ तथा विशिष्ट शास्त्रीय मूर्तियो को छोडकर अन्य मूर्ताङ्कनों में विशेषकर जिन-मन्दिरो की छतों दीवारो स्तंभो द्वारों तोरणो स्तूप आदि को वेष्टित करनेवाली वेदिकाओ के स्तंभो एवं सूचियों आदि के अलङ्करण में स्वतन्त्रता लोकरञ्जक कलावैचित्र्य इन जैन कृतियों में भी प्रचुर मात्रा

में प्राप्त होता है। यथा खजुराहो के मंदिरों, देवगढ़ के स्तंभों और विशेषकर मथुरा के वेदिका-स्तंभों पर उत्कीर्ण शालभंजिका, पुष्पचयनमग्ना, प्रसाधनरता, नृत्यरती, दाम्पत्य-केलि-मुग्धा, मुक्ताहारिका-शुकक्रीडासंलग्ना इत्यादि विविध नारीरूप भी उपलब्ध होते हैं।

इसी प्रकार चित्रकला जिनमंदिरों एवं गुहामंदिरों की भित्तियों को सजाने में, कथा-ग्रन्थों को सचित्र करने में तथा अन्य ग्रन्थ प्रतियों के अथवा विज्ञप्ति पत्रों के अलंकरण आदि में विकसित हुई और बहुधा अपने विषय के अनुसार असाम्प्रदायिक ही रही। जिन भक्ति के प्रसंग से जैनों ने वाद्य एवं गेय संगीत की विधाओं को भी प्रोत्साहन दिया। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन हिन्दी, ब्रजभाषा, बुंदेली, छत्तीसगढ़ी, अवधि, खड़ी बोली, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, तेलगू, मलयालम प्रभृति भारतीय भाषाओं में क्रमबद्ध वाङमय का प्रणयन करनेवाले जैन लेखक किसी एक जाति और वर्ग से नहीं आये। ये राजपरिवार से लेकर किसान की कुटिया तक तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ प्रभृति सभी जातियों से आये हैं। साहित्य में चित्रित पात्र भी सभी जाति और वर्गों के हैं। सम्यग्दर्शन सम्पन्न मातङ्ग को भी देवतुल्य कहा गया है। अत चारित्र विकास की सभी संभावनाएँ इस वाङमय में सर्वाधिक निरूपित हैं। विधाओं की दृष्टि से केवल संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकाव्य लगभग पचास आज उपलब्ध हैं जबकि संस्कृत साहित्य के इतिहासकार पन्द्रह से अधिक महाकाव्यों का परिचय प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। इसी प्रकार उच्च कोटि के रसमय काव्य प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन हिन्दी और कन्नड में सौ से कम नहीं हैं। ललित साहित्य की दृष्टि से जैन वाङमय बहुत ही समृद्ध है। भाषाविज्ञान, संस्कृति, इतिहास और काव्यानन्द की दृष्टि से सैकडों जैन ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं। जैनों में एक एक ऐसा लेखक और कवि है जिसने अपने जीवन में एक लाख श्लोक लिखे हैं। आचार्य वीरसेन ने अकेले ही अपने जीवन में एक लाख श्लोक प्रमाण टीका लिखी है। इनकी विश्वसाहित्य में धवला और जयधवला टीकाएँ विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उल्लेख्य हैं। अत जैन साहित्य के अध्ययन, अनुशीलन और अन्वेषण की आज आवश्यकता है। शोध खोज के लिए जैन साहित्य में सैकडों विषय हो सकते हैं। अभी तक जो भी कार्य हुआ है वह समुद्र में एक बून्द के समान है।

इसमें प्राय कोई सन्देह नहीं है कि जैनों का उपयुक्त असाम्प्रदायिक साहित्य एवं कलाकृतियाँ अपनी बहुलता, विविधता, महत्व एवं उपादेयता की दृष्टि से अन्य किसी भी भारतीय परम्परा के साहित्य एवं कला की अपेक्षा हीन, निम्न कोटि की या गौण समझे जाने के योग्य नहीं है। किन्तु उनका सम्यक अध्ययन एवं मूल्याङ्कन नहीं हो पाया है। अभी तक उनके प्रामाणिक विवरण भी तयार नहीं हो पाये हैं जो कुछ योरोपीय प्राच्यविदों ने लिख दिया है उसका भी विधिवत् संकलन एवं समीक्षा नहीं हुई है। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्य एवं कला दोनों ही क्षेत्रों में व्यवस्थित विषय विभाजन करके समर्थ विद्वान् उनका पृथक्-पृथक् सूक्ष्म एवं घनीभूत करके सर्वेक्षण पर्यवेक्षण करें और उसके आधार पर प्रामाणिक विवरण तैयार किये जायँ। दूसरे प्रत्येक वर्ग की साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों का विवेचन एवं मूल्याङ्कन उसके समकालीन एवं पूर्वापर समकक्ष कृतियों के परिप्रेक्ष्य में किया जाय। इस भ्रान्त धारणा का उन्मूलन करने की भी आवश्यकता है कि जैन जो एक छोटा-सा अति गौण धार्मिक सम्प्रदायमात्र है; अतएव इसके जो भी सांस्कृतिक योगदान हैं वे सेक्टेरियन साम्प्रदायिक या धर्मविशेष मात्र से संबद्ध ही हैं। यदि यह भारतीय जैन साहित्य

संसद् आरा के देवकुमार रिसर्च इस्टीट्यूट जैसी पुरानी प्रतिष्ठित संस्था को अपनी प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाकर उनमे उपर्युक्त दिशा-संकेतो का समावेश करले तो उसके मूलभूत उद्देश्यो की बहुत कुछ पूर्ति हो जाय।

मैंने इस विवेचन मे जैनों के तथाकथित असाम्प्रदायिक साहित्य और कला का जो इस गोष्ठी का प्रकृत विषय है संकेत-मात्र सूचन ही किया है, उक्त साहि य और कला के वर्गीकृत विस्तार मे मैं नही गया क्योकि वैसा करना गोष्ठी मे भाग लेने वाले विद्वानो के अधिकार क्षेत्र मे अनधिकार प्रवेश करना होता। अपने अपने विषयो पर आशा है वे विस्तार से प्रकाश डालेंगे ही।

अ त मे मैं ससद् के कायकर्ताओ भाई डा नेमिच द्र जी आदि का इस अधिवेशन के नियोजक डा सुबोधकुमार जी का प्रस्तुत गोष्ठी के सयोजक भाई डा कस्तूरच द कासलीवाल का तथा समस्त उपस्थित सज्जनो का हृदय से आभारी हूँ कि उ होने मेरी अयोग्यता एवं अक्षमता की उपेक्षा करके मुझे इस गोष्ठी का अध्यक्षीय पद देकर गौरवा वित किया है और मेरी बात शान्ति के साथ सुनने की कृपा का है। मरी हार्दिक कामना है कि भारतीय जन साहि य ससद् अपने सदुद्दश्यो की पूर्ति मे उत्तरोत्तर प्रगतिशील होती जाय।

जय सवज्ञ!

● ●

साहित्य-कला-संगोष्ठी के संयोजक

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

का

भाषण

आदरणीय डा० शर्मा माननीय अध्यक्ष महोदय उपस्थित विद्वत्वर्ग भाइयो एवं बहिनो।

भारतीय जन साहित्य संसद के प्रथम अधिवेशन के अवसर पर आयोजित जैन साहित्य कला संगोष्ठी के संयोजन का भार डाल कर मेरा जो सम्मान बढ़ाया है उसके लिये मैं आप लोगों का पूर्ण आभारी हूँ। यद्यपि मैंने मान्य डा नेमिचन्द्र जी संयुक्त संयोजक भारतीय जन साहित्य संसद से ही उस कार्य को सम्पन्न करने का बार-बार निवेदन किया था। लेकिन उन्होंने मेरे नम्र निवेदन को न मानते हुए मुझे ही इस कार्य को सम्पन्न करने का आदेश दिया। इस संगोष्ठी को सफल बनाने मे अधिकांश कार्य उन्होने ही किया है इसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

आपने अभी माननीय डा शर्मा सा एवं प फूलचन्द्र जी सा के सारगर्भित भाषण सुने। दोनो ही विद्वानों ने जैन साहित्य की महत्ता उसके प्रकाशन एवं प्रचार पर जो विस्तृत प्रकाश डाला है वह अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मैं आशा करता हू कि साहित्य संसद उनकी योजना को मूर्त रूप देगा। जन साहित्य एव कला भारतीय साहित्य एवं कला का एक प्रमुख अग है। इसलिये जब तक यह अंग पूर्णत प्रकाश मे नही आवेगा उसके विविध पक्षो पर खोज नहीं की जावेगी उसका अज्ञात एवं अप्रकाशित साहित्य प्रकाशित नही किया जावेगा तथा भाषा विशेष के इतिहास में एवं कला के इतिहास में उसे उचित स्थान नही मिलेगा तब तक उस इतिहास को भारतीय साहित्य के विविध अंगो का प्रतिनिधित्व करने वाला इतिहास नही कहा जा सकता। वह अपूर्ण इतिहास ही माना जावेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि जैन विद्वानो एवं मान्य आचार्यों द्वारा निबद्ध साहित्य को उचित स्थान मिले और उसे केवल धार्मिक साहित्य समझ कर अब तक उसकी जो उपेक्षा की जाती रही है उसका सर्वथा त्याग किया जावे।

जैन आचार्यों एव विद्वानों ने सदा ही अपनी ज्ञान-साधना एवं आत्म-साधना से जन-साधारण का जीवन साहित्य के माध्यम से ऊँचे उठाने का प्रयास किया है। ये विद्वान् एवं आचार्य विविध भाषाओं के ज्ञाता होते थे और भाषा विशेष से कभी मोह नहीं रखते थे। जिस किसी भाषा की कृतियों की जनता द्वारा मांग की जाती उसी भाषा में वे अपनी लेखनी चलाते और उसे अपनी आत्मानुभूति द्वारा परिप्लावित कर देते। कभी उन्होंने पुराण ग्रन्थ लिखे तो कभी काव्य-ग्रन्थों को लिखने में अपनी लेखनी चलायी। ज्योतिष आयुर्वेद, गणित, रस, अलंकार आदि भी उनके प्रिय विषय

रहे। सुभाषित उपदेशी स्तोत्र बत्तीसी छत्तीसी आदि के रूप मे उन्होंने कितने ही ग्रंथों का निर्माण किया। इन विद्वानों एवं आचार्यों ने सैकड़ो की सख्या मे हि ा एवं राजस्थान की भाषा मे चरित एव कथा-ग्रथो की तथा फागु बलि शतक एव बारहखडी बारहमासा आदि के रूप मे रचनायें संरचित करके पाठको को अध्यात्म रस का पान कराया। प्रान्तवाद एव भाषा विशेष के झगड़े मे य कभी नहीं पड़े क्योंकि न विद्वानो की साहित्य-सर्जना का उद्देश्य तो सदैव ही आत्म-संतोष एव जन कल्याण का रहा है। जन आचार्यों स ता एव विद्वानो ने साहित्य सजन के अतिरिक्त साहित्य-सग्रह एव उसकी सुरक्षा मे इतनी अधिक रुचि ली कि आज भी राजस्थान गुजरात महाराष्ट्र उत्तरप्रदेश बिहार देहली एवं दक्षिण भा त मे सकडो की संख्या मे ग्रन्थ संग्रहालय हैं। और इन जैन सग्रहालयो मे मेरे अनुमान से दस लाख स कम हस्त लिखित प्रतियाँ नही होगी। अकेले राजस्थान मे १५ से अधिक ग्रन्थ सग्रहालय है और उनमे २ लाख के करीब हस्त लिखित ग्रथो का संग्रह होगा। लेकिन दुःख इस बात का है कि साहि य की म अमू य निधि की ओर अब तक जन एव जनेतर विद्वानो का बहुत कम ध्यान गया है। न तो अभी उनका कोई यवस्थित सूचियाँ बन कर प्रकाशित हुइ है और न उनमे सग्रहीत अज्ञात व अप्रकाशित साहित्य पर कोई प्रकाश डाला जा सका है। अभी मुझे राजस्थान के जन ग्र थ भण्ड रो पर शोध निब ध लिखने एव श्री महावीर क्षेत्र क शोध सस्थान का ओर स राजस्थान के इन भण्डा को देखने एव उनकी सूचिया बनाने का अवसर मिला। उस अवसर पर हिन्दी एव अपभ्रश की सकडो अज्ञात एव अप्रकाशित रचनायें प्राप्त हुइ। संस्कृत ग्रथो की प्राचीनतम प्रतियाँ इन भण ा ा म संग्रहीत है। इसलिये संस्कृत प्राकृत अपभ्रश एव हिन्दी मे भी विद्वानो का जन भण्डा ा म सग्र ीत साहित्य का खोज करनी चाहिये। और तभी जाकर हमे सा हि िक क्षत्र म नव उपलब्धियाँ प्राप्त होगी। मैं उन्हे राजस्थान मे एव विशेषत जयपुर मे पधारने का निम त्रण देता हूँ तथा उनके खोज के सम्बन्ध मे पूर्ण सहयोग देने का वि वास देता हूँ।

न जन साहि यकारो ने साहि य जगत् को जो च ा य भेंट की वे सभी उच्च स्त का है। वे विविध विषयो पर लिखी गयी है तथा उनमे विषय का अच्छा प्रतिपादन हुआ है। सस्कृत साहित्य को ही लीजिये। उसमें निबद्ध कृतियाँ दर्शन सिद्धा त का य पुराण कथा योतिष आयुर्वेद गणित शास्त्र स्तोत्र एव पूजा आदि विषयो स सम्ब धित है। नमे कितनी ही कृतिया तो ऐसी है जिनमें किसी एक कृति पर ही शोध प्रब ध लिखा जा सकता है। दर्शन शास्त्र म अष्टसहस्री प्रमेय कमलमार्तण्ड सिद्धान्त ग्र थो म त त्त्वार्थ राजवार्तिक सर्वार्थसिद्धि का य साहि य मे च द्रप्रभचरित यशस्तिलकचम्पू वरागचरित एव पुराण साहि य म महापुराण हरिवंशपुराण पद्मपुराण आदि कुछ ऐसी कृतियाँ है जो सभी दृष्टियो स महत्त्वपूर्ण हैं और जिनपर स्वतत्र रूप म शोध प्रबन्ध लिखे जा सकते है। प्राकृत भाषा मे निबद्ध जैन आगमो के अतिरिक्त आ कुन्दकुन्द देवसेन आचार्य नेमिचन्द्र की कृतियाँ उच्चस्तर की रचनायें है। सी तरह स्वयंभू पुष्पदन्त धनपाल वीर नयनन्दि धवल एवं रइधू अपभ्रंश के जगमगाते हीरे हैं। नके द्वारा लिखा हुआ साहि य किसी भी भाषा के उच्चस्तरीय साहि य के समकक्ष रखा जा सकता है। इसी तरह योगीन्द्र रामसिंह रल्ह सधारु ब्रह्मजिनदास कुमुदचन्द्र बनारसीदास भूधरदास एव द्यानतराय आदि कवियो द्वारा लिखे साहित्य पर भी पूर्ण खोज होने की अति आवश्यकता है। यद्यपि जन विद्वानो का अधिकाश साहित्य अप्रकाशित अवस्था में है और वह हस्तलिखित रूप में ही है। इसलिये उनकी खोज में पर्याप्त व्यय भी

करना पड़ेगा। लेकिन इसमें उन्हें नया साहित्य मिलेगा एवं नयी-नयी अनुभूतियाँ प्राप्त होंगी। नयी दिशा के साथ साहित्य-रचना की नयी शैली मिलेगी।

भारतीय जैन साहित्य संसद का जन्म इसी उद्देश्य को लेकर हुआ है और मुझे आशा है कि साहित्य के इस पुनीत यज्ञ में अब सब विद्वानों का सहयोग मिलेगा। प्राचीन जैन साहित्य की खोज के साथ-साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन भी आवश्यक है। जैन विद्वानों एवं आचार्यों ने जो कुछ लिखा है वह काव्य भाषा एवं शैली की दृष्टि से कितना विकासोन्मुख है उसके निर्माण से जन जीवन को क्या-क्या लाभ मिले हैं तथा विषय प्रतिपादन मे लेखक कहाँ तक सफल रहा है, इन सबका तुलनात्मक अध्ययन होना आवश्यक है।

● ●

दर्शन और आचार संगोष्ठी के उद्घाटक

डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

का

उद्घाटन-भाषण

[दर्शन और आचार संगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए श्री माधवजी द्वारा दिये गये भाषण का संक्षिप्त सार]

जीवन-शोधन के लिए दर्शन और आचार का अध्ययन अत्यावश्यक है। वस्तुत जीवन शोधन की वैज्ञानिक प्रक्रिया ही दर्शन का वर्ण्य विषय है। जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का रहना और परमतत्त्व की प्राप्ति के हेतु विभिन्न मार्गों का अनुसरण करना मानव का स्वभाव है। अत आत्मा परमात्मा जगत् और इन तीनो के सम्बन्ध का विश्लेषण सभी दार्शनिको ने किया है। दर्शनशास्त्र की यात्रा 'कोऽहं' से प्रारम्भ होती है। मनुष्य के मन में प्रश्न उत्पन्न होता है, कि मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है तथा इस कर्तव्य की पूर्ति किस मार्ग के द्वारा होनी चाहिए आदि प्रश्न उसके मन को कुरेदते रहते हैं। दर्शनशास्त्र इन प्रश्नों का उत्तर देता रहता है। यह यात्रा 'सोऽहं' में पूर्ण हो जाती है अर्थात् मैं वही हूँ जो परमात्मा का शुद्ध तत्त्व है। यदि मेरा स्वरूप साधना और तत्त्वज्ञान के द्वारा प्राप्त हो जाय तो फिर मैं वही हो जाऊँ, जो मुझे होना है।

भारतवर्ष में छ दार्शनिक सम्प्रदाय हैं जिन्होंने मूल तत्वों के विवेचन और विश्लेषण द्वारा मोक्षप्राप्ति के उपायों का निरूपण किया है। जैनदर्शन की गणना यद्यपि इन छ आस्तिक सम्प्रदायों में नहीं है पर है यह भी आस्तिक दर्शन। आत्मा के विभिन्न रूपों पर्यायों और गुणों का विवेचन इस दर्शन में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा कहा जाता है। यह परमात्मा अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य से युक्त है। जैन दार्शनिकों ने आत्मा और परलोक का अस्तित्व स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। पुण्य पाप बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था जैनदर्शन में विस्तार से वर्णित है। मोक्षमार्ग का निरूपण करते हुए सम्यकदर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यकचरित्र के समवाय को अभीष्ट प्राप्ति का मार्ग कहा है। सम्यकदर्शन तत्त्व सम्बन्धी अभिनिवेश या श्रद्धा है। जैनदर्शन में जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा एवं मोक्ष ये सात तत्त्व माने गये हैं। मूलतः दो ही तत्त्व हैं--जीव और अजीव। अनन्त चतुष्टय रूप आत्मा कषाय और प्रमाद से युक्त होकर कर्मों का आस्रव करता है और मिथ्यात्व अविरति आदि के कारण बन्ध में अन्तर होता जाता है। संसार का प्रपञ्च द्रव्य-व्यवस्था द्वारा स्वभाव गुणानुसार स्वयमेव घटित होता रहता है। यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने लोक व्यवस्था के लिए किसी परोक्ष शक्ति की कल्पना नहीं की। जैनदर्शन के अनुसार यह लोक अनादिनिधन एवं अकृत्रिम है। इसकी रचना का आधार षड्द्रव्य है मनुष्य का उत्थान और पतन स्वयं उसके हाथ में है। अन्य कोई भी परोक्ष शक्ति इसे अपने हाथ की कठपुतली नहीं बना सकती है। जैसा जीव का उदय और बन्ध रहता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जैनदर्शन के अनुसार आत्मा स्वयं कर्ता और भोक्ता है। जीव ज्ञान और दर्शन युक्त है और इतर जगत् जड है।

जैन दर्शन में जीव की कर्माविष्ट विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण पाया जाता है। कर्म पदार्थ पुद्गल की एक पर्याय है जिसे जैन दार्शनिकों ने शास्त्रीय भाषा में कार्माणवर्गणा कहा है। ये कार्माणवर्गणाएँ मूर्तिक होती हुई भी इतनी सूक्ष्म है कि इन्हें अदृश्य कहा गया है। जिस प्रकार लोह का पिण्ड अग्नि में गर्म किये जाने पर चारों ओर से जल का आकर्षण करता है उसी प्रकार चेतन आत्मा अपनी वैभाविक शक्ति के कारण विकृत हो कर्म परमाणुओं को सब ओर से आकृष्ट करता है। ये कर्मपरमाणु खिंचकर मनुष्य की कषाय प्रवृत्ति की तारतम्यता के कारण आत्मा में चिपट जाते हैं। तथ्य यह है कि मन वचन काय का योगमयी प्रवृत्ति कर्मपरमाणुओं को आकृष्ट करती है और कषाय प्रवृत्ति उन परमाणुओं से आत्मा को श्लिष्ट कर देती है। उदाहरणार्थ—यों समझा जा सकता है कि आन्धी से धूल उडती है और यह धूल दीवाल पर चिकने या रूक्ष परमाणुओं के कारण चिपट जाती है। चिपटने का काम विजातियों में ही होता है। रूक्ष कागज चिकनी गोंद के संयोग से सटता है। अतः जैन दार्शनिकों ने बन्ध का कारण स्निग्धरूक्षत्वात् कहा है। आत्मा में कषायभाव गोंद के समान श्लेष उत्पन्न करता है और योग—मन वचन-काय कर्मों को आकृष्ट करते हैं। अतएव कर्म और आत्मा का यह संयोग अनादिकाल से चला आ रहा है।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब आत्मा स्वभावतः ज्ञान दर्शनयुक्त है तो यह विकारमयी प्रवृत्ति कहाँ से और कैसे उत्पन्न हो गई? यतः स्वभावतः निर्मल वस्तु को कोई भी विकृत नहीं बना सकता है। यदि विजातियों के संयोग से इस प्रकार की प्रवृत्ति निरन्तर होती रहे तो फिर निर्वाण

का प्रश्न ही नहीं आ सकता है। निर्वाण में आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकाशित रहता है और इस शुद्ध स्वरूप को विकृत करने वाले कारण सदा अनुपस्थित रहते हैं। अतः इस शुद्धि के बाद भी विकृति मानी जाय तो फिर निर्वाण का महत्त्व ही क्या रहा ? जैन दार्शनिकों ने इस प्रश्न का समाधान आत्मा की दो शक्तियाँ मानकर किया है। उनका अभिमत है कि आत्मा में मूलतः दो शक्तियाँ पाई जाती हैं[1]—(१) वैभाविक शक्ति और (२) स्वाभाविक शक्ति। संसारावस्था में जीव की वैभाविक शक्ति कार्यशील रहती है। अतः आत्मा विभावरूप परिणमन करता रहता है। तपश्चरण और साधना द्वारा कर्मों की निर्जरा हो जाने पर जब पूर्ण शुद्ध दशा प्राप्त हो जाती है तो जीव की स्वाभाविक शक्ति का विकास हो जाता है। अतः निर्वाण प्राप्त होने वाले पर विकार उत्पन्न करने वाले कारणों के न रहने से आत्मा अविकारी बना रहता है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने संसार और मोक्ष की व्यवस्था निरूपित की है।

आचार के क्षेत्र में दान तप शील और भावना शुद्धि को विशेष महत्त्व दिया है। दान का वास्तविक अर्थ त्याग है। जब व्यक्ति ममता और अहंकार का पूर्ण त्याग कर देता है तो वह सच्चा दानी बन जाता है। जो जितने अंश में त्यागवृत्ति को अपनाता है वह उतने ही अंश में दानी कहा जाता है। जीव ममत्ववश ही संसार के पर पदार्थों को अपना समझता है और उनमें स्वबुद्धि उत्पन्न कर आसक्त होता है। अतएव जिसने ममता और अहंकार को छोड़ दिया है और निज गुणों को ही सर्वस्व समझा है ऐसा व्यक्ति दान के वास्तविक महत्त्व को समझ जाता है। जैनदर्शन में सेवा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का सिद्धान्त सेवा का उत्कृष्ट रूप उपस्थित करता है। अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह विश्वप्रेम के ऐसे विकसित रूप हैं जिनसे त्याग संयम और सदाचार की पूर्ण शिक्षा प्राप्त होती है। जैन दर्शन का साधक श्रमण कहलाता है और यह निरालस भाव से कठोर श्रम करता है। साधना ध्यान और इच्छा निरोध के रूप में सम्पन्न होती है। संयम की पराकाष्ठा के कारण इन्द्रिय और मन के निग्रह के साथ समस्त प्राणियों को सुख शान्ति पहुँचाने की भावना सदैव उच्च कोटि की रहती है। प्रमाद या असावधानी का त्याग समिति के रूप में और मन वचन और काय का निग्रह गुप्ति के रूप में साधक करता है। शरीर-धारण के हेतु साधक समाज से जो भोजन भी ग्रहण करता है उसके बदले में समाजोत्थान के हेतु अपना उपदेश देता है। जिस प्रकार गाय घास खाकर मधुर दुग्ध प्रदान करती है उसी प्रकार जैन श्रमण समाज से रूखा-सूखा अल्पाहार ग्रहण कर आत्मोत्थान कारक उपदेश देता है। जैनाचार जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालता है। गृहस्थ और मुनि दोनों के लिये विभिन्न प्रकार की साधनाओं का प्रतिपादन करता है। संक्षेप में गृहस्थ आचार-शुद्धि

---

१ जैन दर्शन में मूलतः एक वैभाविक शक्ति ही मानी गई है। उसके परिणमन दो स्वीकार किये गये हैं—१ विभाव और २ स्वभाव। विजातीय द्रव्य (कर्म) का जब तक आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा में विभाव (कषायादि) परिणाम होता रहता है। पर विजातीय द्रव्य का सम्बन्ध आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक (पूर्णतः) समाप्त हो जाने पर उसमें स्वभाव परिणाम ही होता है। इसी स्वभाव परिणाम में आत्मा अनन्त काल तक निमग्न रहता है और फिर उसे पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता क्योंकि पुनर्जन्म का कारण विजातीय द्रव्य नहीं रहता। देखिए, राजमल पंचाध्यायी।

—सम्पादक।

के लिये शुद्ध भोजन ग्रहण करता है भोजन में अहिंसा के सिद्धान्तों को पूर्णतया पालन करते हुए अभक्ष्य एवं अस्वास्थ्यकर पदार्थों के त्याग पर जोर देता है। मनशुद्धि के हेतु पंच पाप सप्त-व्यसन एवं विकारी प्रवृत्ति के त्याग पर जोर दिया गया है।

मुनि आचार में महाव्रत गुप्ति और समिति रूप आचार का निरूपण किया गया है। आध्यात्मिक उत्थान के लिये गुणस्थान अवरोहण की प्रणाली अत्यन्त वैज्ञानिक है। साधक अपने ध्यान की तीव्रता से मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योगो का क्रमश निराकरण करता हुआ अपनी कर्म-कालिमा को आत्मा से निकाल बाहर करता है और केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है। गुणस्थान अवरोहण की प्रणाली बडी ही सुचिन्तित वैज्ञानिक प्रणाली है। एक साधक की साधना के विकास का यह इतिहास ही है।

जैनदर्शन में स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का जो सिद्धान्त प्रतिपादित है वह द्रव्य का व्यवस्था पर तो प्रकाश डालता ही है पर जन-जीवन के लिये भी उसकी उपयोगिता कम नही है। संसार मे विचार भिन्नता का रहना आवश्यक है क्योकि प्रत्यक मनुष्य के विचार उसकी योग्यता शक्ति स्वभाव वातावरण आदि के अनुसार बनते हैं। अत किसी भी व्यक्ति के विचार पूर्णत सत्य नही हो सकते। आंशिक सत्य विचारो मे निहित रहता है। स्याद्वाद इसी मत भिन्नता मे समन्वय उत्पन्न कर सत्य का विश्लेषण करता है। हठ और पक्षपात स्याद्वाद सिद्धान्त से ही दूर हो सकते हैं अत समाज और व्यक्ति के विकास के लिये स्याद्वाद सिद्धान्त की उपयोगिता सर्वविदित है। विभिन्न राजनैतिक पार्टियां यदि स्याद्वाद सिद्धान्त को अपना लें तो उनमे मतभेद ही न रहे और वे सुगठित होकर देश के कार्यों में लग जांय।

मैं जैनदर्शन का एक सामान्य छात्र हूं। इस दर्शन की सूक्ष्मताओ और विशेषताओ की जानकारी मुझे नही है पर व्यक्ति स्वातन्त्र्य को जितना महत्त्व इस दर्शन मे दिया गया है सम्भवत उतना महत्त्व अन्य दर्शनो मे नही मिलेगा।

अभी अभी हमने सुना कि मरण भी एक उत्सव या त्योहार है जिसे जैनदर्शन मे सल्लेखना कहा गया है। आस्तिक—आत्मविश्वासी मरण और रोगो से घबडाता नही। वह कर्मठ बन मृत्यु से मल्लयुद्ध करता है। आत्मा के अमरत्त्व का विश्वास उसे निर्भय बनाता है। पुनर्जन्म और मरण का विवेचन जैन दार्शनिको ने विभिन्न दृष्टियो से किया है। लोकभय परलोकभय वेदनाभय आदि सात भयों से मुक्त कर निर्भय होने की ओर मैं आपको ले चलना चाहता हूं।

● ● ●

दर्शन और आचार संगोष्ठी

का

अध्यक्षीय भाषण

डा० एन० के० देवराज

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

हमारा देश एक पुराना देश है। इसका लम्बा इतिहास है। इस देशमें दार्शनिक धर्मचिन्तक एव विचारक प्राचीन काल से ही उत्पन्न होते चले आये हैं। सभीने अपनी ज्ञानराशि द्वारा देश की सस्कृति के निर्माण में योग दिया है। जीवन शोधन के सम्बन्ध में इस देशके विचारको ने जितना कहा है उतना शायद अन्य-देश के विचारको ने नहीं। साथ ही कहना होगा कि यहाँ के मनीषियो ने राजनीति और समाज निर्माण के सम्बन्ध मे विशेष चिन्तन नहीं किया। वैयक्तिक जीवन की इतनी प्रमुखता रही जिससे परलोक सम्बन्धी बातें ही अधिक कही जाती रहीं। क्रान्तिकारी समाज-सुधारक इस देश में भी जन्मे है। बुद्ध और महावीर का व्यक्तित्व क्रान्तिकारी चिन्तकों में परिगणित है। हमे यहाँ जन-दर्शन के सिद्धान्तो और तत्सम्बन्धी जीवन-मूल्यो की चर्चा करनी है। इस दर्शन के मनोषियो ने भी आध्यामिक जीवन-मूल्यो का गम्भीर विश्लेषण किया है।

जैन साहित्य विशाल है। विशेषत उसका दार्शनिक-वाङमय अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। जन दर्शन को हम तीन युगो मे विभक्त कर सकते हैं--

१ मोक्षयुग २ अनेकान्तवाद—समन्वयवादी युग एव ३ तर्क-युग।

मोक्ष की विचारधारा प्रतिवादी कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई प्रतीत होती है। वैदिक संस्कृति लौकिक अभ्युदय का सन्देश देती है। हम अपनी ऐहिक उपलब्धियों के लिये प्रयासशील रहते हैं। वैदिक-परम्परा ऐश्वर्य धन और सन्तान की प्राप्ति में सहयोग देती है। वैदिक महर्षियो ने देवों की स्तुति और शंसन द्वारा वित्तैषणा लोकैषणा और पुत्रैषणा की पूर्ति चाही है। जीवन का लक्ष्य एषणात्रय तक ही सीमित है। उपनिषद्काल में चिन्तन-क्षेत्र में क्रान्ति आरम्भ हुई और जीवन को एक नये ही दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। पुनर्जन्म और परलोक की व्यवस्था चिन्तन-क्षेत्र के भीतर समाविष्ट हुई। उपनिषद् के वेत्ता जनक आदि ने अध्यात्म-तत्त्वों की मीमांसा की। इस ज्ञान-क्षेत्र में श्रमणों की परम्परा विशेष योगदान देती हुई परिलक्षित होती है। मोक्षका अर्थ है—भीतर के पूर्णत्व को प्रकट करना। उपनिषद् में अद्वैतवादी परम्परा भी पूर्णत्वको प्रतिष्ठा करती है जैन-दर्शन में भी समस्त कर्मोंका अभाव होने पर आत्माकी शक्तियों के पूर्ण विकास को मोक्ष कहा है। यह परम्परा एक गहरे अर्थ में मानवतावादी है।

विभिन्न दार्शनिकों ने मोक्ष स्वरूप की मान्यता विभिन्न प्रकार से ही स्वीकार की है। मैं यहाँ इस मान्यता-भेद की चर्चा न कर मूल सिद्धान्तो के सम्बध मे ही चर्चा करूँगा।

जैन-दर्शन मानवतावादी है। यह मनुष्य को ही महत्त्व देता है ईश्वर को नही। सर्वाङ्गीण विकास के लिये व्यक्ति उत्तरदायी है। वह अपने पुरुषार्थ और प्रयत्नो से अपने अच्छे गुणो का विकास कर सकता है। उसे अपने विकास और ह्रास के लिये अन्य किसी अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है।

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का प्रमुख समन्वयवादी सिद्धान्त है। एक उदाहरण—कुछ दार्शनिक ज्ञानमात्र को स्वत प्रमाण मानते हैं कुछ परत प्रमाण। अपने ग्रन्थ प्रमाणमीमासा मे हेमचन्द्र कहते हैं—चूँकि कुछ ज्ञान प्रकार स्वत प्रमाण होते हैं कुछ परत प्रमाण।

तृतीय तर्क-युग मे ज्ञान मीमासा और प्रमाण मीमासा के अन्तगत तक ने प्रवेश पाया। भारत के सभी दार्शनिको ने ज्ञान और प्रमाण की मीमासा प्रस्तुत की है। जन-दशन का ज्ञान मीमासा और प्रमाण-मीमांसा प्राय इतर भारतोय दशनों से मिलती जुलती है। जन तार्किको ने कैवल्य की चर्चा की है। यह चर्चा अयत्र भी पाई जाती है। प्रमाण के क्षत्र मे अनुमान और उसके अवयवो पर जैन दार्शनिको ने सामान्यत अन्य मनीषियो के समान हो विचार किया है।

जैन दर्शन सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय नही मानता है और न वह स्रष्टा ईश्वर की कल्पना ही करता है। गुरुडम और अन्धविश्वासो मे एक अधविश्वास ईश्वर का सृष्टिकर्तृ व भी है। मनुष्य अपने विकास का सारा दायित्व ईश्वर पर छोड देता है और स्वय अकम य बन जाता है। ईश्वर की कल्पना का कारण भय और अज्ञान है। जहाँ मनुष्य की बुद्धि पगु हो जाती है वहाँ वह ईश्वर को ले आता है। जिस बात को हम नही जानते हम कहने लगते हैं कि भगवान् जान। अत मनुष्य की अज्ञानमयी प्रवत्ति भी ईश्वर की कल्पना का कारण है। हम भय स रक्षा प्राप्त करने के लिये एक संबल एक सहारा खोजते है। मनु य ने भय रक्षा के लिये एक ऐसा सबल सहायक कल्पित किया जो दिव्य शक्ति परिपूर्ण है। अत भय की प्रवत्ति ने ईश्वर को ज म दिया है। ईश्वर उत्पत्ति का एक अय कारण मनुष्य की कल्पनाशोलता भी है। मनुष्य ने अपनी कल्पना से ऐसी अनेक वस्तुएँ निर्मित की है, जो अप्रत्यक्ष हैं। प्राचीन भारत मे दाशनिको ने अनेक विराट वस्तुओ को कल्पना-द्वारा गढ़ा फलत ईश्वर अमरत्व जैसे शब्द गढ़े गए। तथ्य यह है कि प्राचीन भारत के मनीषी बड़े क्रियाशील थे वे अपनी कर्मठता से विराट वस्तुओ के सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार की धारणाएँ और व्यवस्थाएँ प्रस्तुत करते थे। यही कारण है कि अवतारवाद और जगत्-व्यवस्था के सम्बन्ध में मनोरंजक तथ्य उपस्थित किये गये हैं। जन-दार्शनिको ने अनेक रूढ़ियाँ तो स्वीकार की हैं। पर सृष्टि के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। मुक्ति के सम्बन्ध मे संसार त्याग और संन्यास की चर्चा मेरी समझ से बहुत उचित नही है। मैं जीवन्मुक्ति की धारणा को अधिक महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। व्यक्ति कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त करे यह जीने की कला का सुन्दर रूप हो सकता है। स्थितप्रज्ञता कर्मठता के साथ ही शोभित होती है। अकर्मण्यतापूर्ण सयासी जीवन मुझे रुचिकर नहीं है। वस्तुत भारतीय दार्शनिक सफल लोक-जीवन के सम्बध मे कम सोचते हैं। विधि-निषेध परक सिद्धान्तो के आधार पर जीवन की मान्यताएँ स्थापित करते है पर प्रज्ञाशील आधुनिक विचारक पुरानी मान्यताओ को ज्यो-के-त्यों रूप मे स्वीकार करने को तैयार नहीं है।

आज समस्त चिन्तनशील मनीषियों को इस बात की आवश्यकता है कि जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में पुनर्विचार किया जाय और लौकिक और आध्यात्मिक सत्यों के सम्बन्ध में नये समन्वयात्मक प्रयत्न किये जाँय। कोई भी प्रतिभाशाली जाति केवल पुरानी विचारधाराओं का ही अनुसरण नहीं करती वह नये मूल्यों का अन्वेषण और नया चिन्तन भी प्रस्तुत करती है।

जैन-दार्शनिकों का भी यह दायित्व है कि वे पुरानी मान्यताओं के साथ जीवन की नई समस्याओ और जीवन के नये मूल्यों को आज की आवश्यकताओं के अनुरूप स्थापित करें। मोक्ष और उसकी साधना इतना ही जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। हमारा लौकिक-जीवन कर्मठ क्रियाशील और जागरूक बन सके इसके लिये भी बुद्धि-सम्मत चिन्तन की आवश्यकता है। मात्र पारलौकिक या आध्यात्मिक चिन्तन से हमारा हित नहीं हो सकता है। कैवल्य या निर्वाण सभी प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव व्यावहारिक जीवन के मानों की स्थापना भी दार्शनिकों को करनी चाहिए। पुरानी दर्शन की मान्यताओ को और आगे दूर तक ले जाने की आवश्यकता है। जीना एक कला है यह कला विभिन्न जीवन-मूल्यो का समूह है। अतएव दार्शनिको को दर्शन के आलोक मे नये रूप से जीवन-समस्याओं का पुनर्मूल्याकन करने की चेष्टा करनी चाहिये।

● ●

दर्शन और आचार संगोष्ठी
का
संयोजकीय भाषण
श्री दरबारीलाल कोठिया

यह हर्ष की बात है कि आरा नगर मे एक वर्ष बाद पुन ज्ञान-गोष्ठियो का आयोजन हो रहा है। गत वर्ष इसी स्थान पर जैन सिद्धान्त भवन की हीरक जयन्ती का चिरस्मरणीय समारोह सम्पन्न हुआ था। उस समय भी विभिन्न गोष्ठियो का आयोजन किया गया था और समागत विद्वानो ने अपने शोध पूर्ण निबन्धो के पाठ द्वारा ज्ञान की नई विधाओ का प्रदर्शन किया था। इस वर्ष भी आरा नगर के उत्साही एव ज्ञानोपासक बन्धुओ द्वारा इस ज्ञान यज्ञ का अनुष्ठान किया जा रहा है। भारतीय जैन साहित्य संसद् के जिसकी स्थापना अभी कुछ ही समय पूर्व हुई प्रथम अधिवेशन का निमंत्रण देकर और उस प्रसंग से अनेक विद्वानो को उक्त ज्ञान-यज्ञ मे भाग लेने के लिए आमंत्रित करके उन्होने निश्चय ही अनुकरणीय एव सराहनीय कार्य किया है।

इससे पहले साहित्य और कला संगोष्ठी हो चुकी है जिसमे अनेक विद्वानो ने भाग लेकर उसे सफल बनाया है। अब दर्शन और आचार संगोष्ठी होने जा रही है। इस संगोष्ठी मे भी अनेक विद्वान् भाग ले रहे है और वे अपने महत्त्वपूर्ण निबन्धो का पाठ करेंगे। आज की गोष्ठी के अध्यक्ष डा देवराज और उद्घाटयिता श्री माधव है दोनो ही दर्शन शास्त्र के अधिकारी और गम्भीर चिन्तक विद्वान् है। यह संगोष्ठी का सौभाग्य है कि उसे इन विद्वानो के विचार सुनने का सुअवसर प्राप्त होगा।

जहा तक दर्शन और आचार संगोष्ठी का सीमा क्षेत्र है वह व्यापक और विशाल होते हुए भी उसे जैन तक सीमित इसलिए रखा गया है ताकि सुविधा के साथ जैन विचारो और आचारो की हम मीमांसा कर सकें और यह जान सकें कि जैन दर्शन और जैन आचार की भारतीय दर्शन तथा आचार को क्या देन है एव उनका उनके लिए क्या योग दान है ?

विचार के क्षेत्र मे जैन दर्शन ने 'अनेकान्तवाद' और 'स्याद्वाद' इन दो मौलिक सिद्धान्तो की स्थापना की है। विश्व का अणु अणु अनुकूल प्रतिकूल विरोधी अविरोधी इष्ट अनिष्ट आदि अवस्थाओ से समवेत है। जो पानी प्यासे की प्यास को बुझाता है वही पानी कण्ठ मे अटक जाने या गुटका लग जाने पर प्राण-घातक भी है। वह खेतो की सिंचाई करके उन्हे हरा भरा बना देता है और वही बाढ़ के रूप मे खेतो का ही नही पशुओ और मनुष्यो तक को भी बर्बाद कर देता है। अग्नि की दाहकता और पाचकता से कोई अपरिचित नही है। इस तरह सारा विश्व अनेकान्तमय है। कौन दृष्टि से वह अनुकूल है और कौन दृष्टि से वह प्रतिकूल आदि विचार स्याद्वाद द्वारा होता है। विभिन्न दृष्टिकोणो का एकत्र समवाय का नाम स्याद्वाद है। हम पूरी वस्तु को एक दृष्टिकोण से पूर्ण नहीं कह सकते। उसे पूर्ण बतलाने के लिए हमे विभिन्न दृष्टिकोणो का सहारा लेना ही पड़ेगा। शब्द और संकेत हमेशा अधूरी वस्तु को ही बतलाते हैं। अत वक्ता जब किसी वस्तु के बारे मे

निर्देश करता है जो वह अपने अभिप्राय से उसका निर्देश करता है। अन्य अभिप्राय से वह अन्य प्रकार की भी संभव है। इस प्रकार 'स्याद्वाद' सबके अभिप्रायों का आदर करता है और सबको भी वह अपने एकान्त आग्रहों को छोड़कर सबके अभिप्रायों का आदर करने की प्रेरणा करता है। 'स्याद्वाद' से मानस अहिंसा (क्रोध, घृणा, आदि मानस-विकारों का अभाव) का असाधारण पालन होता है। अथवा यों कहना चाहिए कि 'स्याद्वाद' हमें समन्वय सह-अस्तित्व, विचार-सहिष्णुता और अहिंसात्मक सत्य के अनुसरण के लिए प्रेरणा देता है। जैन दर्शन के ये दोनो अमूल्य सिद्धान्त—अनेकान्त और स्याद्वाद—चिन्तकों के तत्त्व चिन्तन में निश्चय ही योगदान करते हैं। इन दोनों सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए जैन दर्शन में 'सप्तभंगी' और 'नय' का भी विचार प्रस्तुत किया गया है जो जैन दर्शन की उपलब्धियाँ मानी जा सकती हैं। जन दार्शनिकों ने इन सबका बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है और उनकी कितनी उपयोगिता है, यह भी उन्होंने स्पष्ट किया है।

आचार के क्षेत्र में जैन दर्शन ने अहिंसा के गढ़ एवं सूक्ष्म रहस्य का उद्घाटन किया है। कायिक अहिंसा से ऊँचे उठकर वाचिक और मानसिक अहिंसा के पालन पर बहुत बल दिया गया है। कितनी ही यातना सहना पड़े पर क्रोध न आये दूषित अभिप्राय मन में न आने पाये प्रतिक्रिया का भाव न जगे तभी वह पूर्ण अहिंसा कही गई है। केवल जीव के मर जाने को हिंसा और उसकी रक्षा का नाम अहिंसा नहीं है। जैन साधु यत्नाचार से जा रहा है और उसके पैरो के नीचे कोई जीव आकर मर जाता है तो वह उसका हिंसक नहीं माना गया है क्योंकि उसके मन मे उस जीव को मारने का न विचार है और न प्रयत्न। अतः उसे अहिंसक बताया गया है। साथ ही जैन विचारकों ने अहिंसा पर विचार करते समय यह भी कहा है कि कोई आततायी देश पर धर्म पर आक्रमण करता है तो चुपचाप उसे सहा न जाय। उसका सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रतिवाद किया जाय चाहे उसमे कितनी ही हिंसा हो वह आत्म रक्षा की दृष्टि से हिंसक नहीं है अहिंसक ही है क्योंकि वह आक्रान्ता नहीं है उसका मानस दूषित नहीं है। इस तरह जैन साधु और जैन गृहस्थ अपनी सीमाओं में अहिंसा का पूर्णतया पालन करते हैं। हमारा ख्याल है कि जन सन्त-विचारकों का आचार के क्षेत्र में यह शोभनतम विचार है और गहराई से उन्होंने उसके रहस्य का अन्वेषण किया तथा जीवन में उसे उतारा है। सत्य अचौर्य, शील और अपरिग्रह ये सब उसी अहिंसक आचार की उसी प्रकार संरक्षिका सद्वृत्तियाँ हैं जिस प्रकार धान्य से पूर्ण खेत की रक्षिका बाड़ होती है। जैन चिन्तकों ने इसी दिशा में अपने समग्र साहित्य का सृजन किया है। उनका मूल उद्देश्य किसी भी साहित्य को रचते समय यथार्थ ज्ञान होने और अहिंसा का पालन करने की प्रेरणा देने का रहा है।

हमें आशा है दर्शन और आचार गोष्ठी मे समवेत विद्वान् अपने महत्त्वपूर्ण निबन्धों द्वारा जैन दर्शन और आचार की उपलब्धियाँ प्रस्तुत करके हमें लाभान्वित करेंगे।

अन्त में संयोजकीय भाषण समाप्त करते हुए हम अपने इन सभी मान्य विद्वानों का हार्दिक स्वागत करते हैं।

आरा

९ जनवरी १९६५ ई०।

●●●

•

भारतीय जैन साहित्य संसद के

प्रथम अधिवेशन पर

साहित्य और कला

तथा

दर्शन और आचार

संगोष्ठियों में

विद्वानों द्वारा

पठित

निबन्ध

•

आदिकाल और भक्तकाव्य की पृष्ठभूमि में

हिन्दी का जैन साहित्य

प्रो० गदाधर सिंह, एम० ए०

[हिन्दी के आदिकाल की कहानी जैन कवियों की कहानी है। वीरत्व के अतिरिक्त उन्होंने परम्परा से जकड़े हुए आसक्ति पूर्ण मानव मन को स्वस्थ नैतिकता के खुले वातावरण मे साँस लेने की प्रेरणा दी। उनके अनुसार भोगों का बहिष्कार नहीं, उनका सम्यक् नियोजन होना चाहिए। भोगों की सार्थकता उनके त्याग में है। संक्षेप में कह सकते हैं कि शृङ्गार की पंकिल भूमि से ऊपर उठकर शान्त की मधुमती भूमिका में आत्मा को प्रतिष्ठित करना ही जैन कवियो का लक्ष्य रहा है।]

ब्राह्मण बौद्ध और जैन—भारतीय संस्कृति के महासमुद्र मे समाहित होनेवाली इन तीन स्रोतस्विनियो का सम्यक अवगाहन किये बिना हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक फैले हुए इस विशाल जन मानस की अन्तश्चेतनाओ का साक्षात्कार कथमपि सम्भव नही है। यह हमारा दुर्भाग्य रहा है कि जहाँ बौद्ध और ब्राह्मण साहित्य के मर्म उद्घाटन की तरफ हम सतर्क रहे हैं वहाँ जैन साहित्य के सामान्य परिचय के प्रति भी हमारी वृत्ति उदासीनता की रही है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखको ने इस साहित्य के प्रति सदा उपेक्षा का भाव रखा क्योंकि उनकी दृष्टि मे —

(क) जैन साहित्य मे ज्ञान योग की साधना है भाव-योग की नही।

(ख) यह साम्प्रदायिक साहित्य है सार्वभौम साहित्य नही।

(ग) इसमें विषय विस्तार नही दृष्टि का एकांगीपन है।

(घ) इसका महत्व भाषा की दृष्टि से है साहित्य की दृष्टि से नही।[1]

आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त मत नवीन तथ्यो के प्रकाश में भ्रान्तिपूर्ण एवं महत्वहीन सिद्ध हो चुका है।

हिन्दी के आदिकाल की कहानी जैन कवियो की कहानी है। यो तो दसवीं शताब्दी से हिन्दी का वर्तमान रूप स्पष्ट होने लगता है किन्तु वस्तुत वह उसके ४०० वर्ष पीछे है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और देशभाषा को अलग अलग बतलाया था। इस दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर स्वयम्भू (वि ९वीं) पुष्पदन्त (वि १ २९) आदि के ग्रन्थो को हिन्दी के ग्रन्थो में नही गिना

---

१ "उनकी रचनाओ का जीवन की स्वाभाविक सरणियों अनुभूतियो और दशाओ से कोई सम्बन्ध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं। अत शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उनको रचनाओ की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।"—रामचन्द्र शुक्ल।

जाता था किन्तु राहुल जी ने इन्हे हिन्दी के कवियो मे स्थान दिया और हिन्दी की काल सीमा को बहुत पीछे खींचकर ले गये। चतुर्मुख स्वयम्भू पुष्पदन्त के अतिरिक्त एक ईशान भी है जिनकी रचनाएँ अभी प्रकाश मे नही आयी हैं। स्वयम्भू ने अपने पउमचरिउ और रिट्ठनेमिचरिउ' में अपने पूर्ववर्ती कवियो के साथ ईशान का भी स्मरण किया है। पुष्पदन्त ने अपने पुराण मे नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि उन्होने न तो चतुर्मुख स्वयम्भू और श्रीहर्ष को ही देखा है और न ईशान की रचनाओ का ही आस्वादन किया है। बाणभट्ट ने उन्हे अपना मित्र तथा भाषा का कवि बतलाया है (भाषाकविरीशान पर मित्रम्) इन उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि ईशान भाषा के महान् कवि थे। यद्यपि इसके पीछे कोई बहुत बडा प्रामाणिक आधार नही है किन्तु मेरा अनुमान है कि ईशान जैन धर्मावलम्बी थे। उस काल मे जिन लोगो ने देशभाषा मे रचनाएँ प्रस्तुत कीं वे परम्परा के प्रति विद्रोह करने वाले जैन बौद्ध या नाथपंथी थे। दसवी शताब्दी के पूर्व किसी भी ब्राह्मण धर्मी ने देशभाषा मे रचना करने का साहस प्रदर्शित किया हो ऐसा ज्ञात नहीं है। यो तो स्वयम्भू या पुष्पदन्त आदि जैन कवियो ने श्रीहर्ष का भी नाम लिया है किन्तु ईशान के प्रति उनकी भक्ति भावना अत्यधिक सुदृढ है। सभी जैन कवियो ने अपने पूर्ववर्ती स्वधर्मी कवियो का बडी ही श्रद्धा से स्मरण किया है। विक्रम स ४ मे रचित संस्कृत रिवशपुराण के रचयिता श्री जिनसेनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती समन्तभद्र सिद्धसेन देवनन्दी रविषेण आदि जैन कवियो का नाम स्मरण करते हुए उनकी बडी प्रशसा की है। स्वय गोस्वामीजी ने सादर रिचरित बखाननेवाले व्यास और वाल्मीकि के प्रति श्रद्धा के फूल निवेदित किये है। यह आश्चर्य जैसा लगता है कि जिस प्रदेश मे महावीर की शिक्षा का उद्भव हुआ हो उस प्रदेश मे जैन धर्म के कवि न रहे हो। निसन्देह लोक प्रचलित भाषा मे रचना करनेवाले जैन कवि महावीर की भूमि मे अवश्य होगे किन्तु आज उनकी देशभाषा की रचनाएँ प्राप्य नही है। ईशान ऐसे ही कवि है। बौद्ध सिद्धो की तरह जब इनकी भी रचनाओ का उद्धार होगा तो हिन्दी के स्वरूप पर नया प्रकाश पडेगा और तब हिन्दी की काल रेखा दो सौ वर्ष और पीछे चला जायगा। ईशान का समय ईसा की छठी शताब्दी का अन्तिम चरण या सातवी शताब्दी का प्रथम चरण है। जन्म स्थान बिहार का गया या शाहाबाद जिला है।

यद्यपि देशभाषा का स्वरूप दसवी शताब्दी के बाद स्पष्ट हुआ किन्तु उसका जन्म बहुत पहले ही हो चुका था। आचार्य देवसेन (वि सं ९९) ने अपने सावयधम्मदोहा मे जिस भाषा का प्रयोग किया वह देशभाषा के बहुत समीप है। उसमे प्रयुक्त धातु रूप विभक्तियाँ सभी देशभाषा की हैं। उनका एक दोहा इस प्रकार है—

भोगह करहि पमाणु जिय इंदिय म करि सदप्प।
हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धे काला सप्प॥

[हे जीव! भोगो का भी प्रमाण रख। इन्द्रियो को बहुत अभिमानी मत बना। काले साँप का दूध से पोसना अच्छा नही होता]

इनका दव्वसहावपयास (द्रव्य-स्वभाव प्रकाश) पहले दोहाबन्ध मे था जो बाद मे माइल्ल धवल द्वारा प्राकृत मे कर दिया गया। इसकी भाषा पुरानी हिन्दी थी। यदि इस काल में जन भाषा प्राकृत रचना का आधार बनने मे समर्थ हो सकती थी तो निश्चित रूप से वह इतनी

उन्नति कर चुकी होगी कि उसमें ग्रन्थ रचना हो सके। श्रीचन्द का 'कथाकोष' देशभाषा में लिखा गया है। श्रुतपंचमीकथा का निर्माण जिनेन्द्र-भक्ति को सुदृढ़ करने के लिये ही हुआ था। श्री अभयदेवसूरि का 'जयतिहुयणस्तोत्र' लोकभाषा में लिखा गया है। यह स्तोत्र ३ गाथाओं में समाप्त हुआ है और इसका रचनाकाल सं. ११११ है।

इन सब उल्लेखों से स्पष्ट है कि ईशान स्वयम्भू पुष्पदन्त या चाहे जो भी हों हिन्दी के सबसे प्राचीन रूप को जैनो की ही देन कहना अत्यधिक उपयुक्त होगा।

चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दी की जो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनमें दो श्रेणी की रचनाएँ हैं —एक प्रामाणिक और दूसरी अप्रामाणिक। प्रामाणिक रचनाएँ वे ही हैं जो या तो बौद्ध सिद्धों कीवाणियाँ हैं या जैन प्रभावापन्न हैं। डा हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है कि मूल मध्यदेश में जहाँ आगे चलकर ब्रजभाषा और अवधी का साहित्य विकसित हुआ है वहाँ किसी प्रामाणिक साहित्यिक रचना का प्रमाण ई सन् की चौदहवीं शताब्दी से पहले का नहीं मिलता।[1]

साहित्यिक प्रवत्ति को क्षत्र विशेष की सीमा मे आबद्ध कर देना बहुत अच्छा नहीं होता। कारण विशेष से किसी स्थान का रचना सुरक्षित नही हो पाये यह एक बात है और कोई प्रामाणिक साहि य रचा हा नहो जाय यह बिल्कुल दूसरी बात है। इन स्थानो मे सूर और तुलसी की काव्य प्रवत्तियो को प्रेरणा देनेवाली कृतियो की रचनाएँ अवश्य हुई होंगी किन्तु क्रूर काल के थपेडो मे वे सुरक्षित नही रह पायी। मिथिला और ब्रज के अथवा राजस्थान और गुजरात के कवि दो भिन्न आकाश के नीचे खडे होगे यह कहना विश्वसनीय नही लगता। ईसा की तेरहवी शताब्दी में उत्पन्न ०रिवद्य चौदहवी के उमापति अमृतकर गणपति ठाकुर ज्योतिरीश्वर ठाकुर आदि मैथिल कवियो मे सूरदास का पूवरूप खोजा जा सकता है। इसी प्रकार की बात तुलसी तथा अन्य प्रदेशो के कवियों के सम्बन्ध मे कही जा सकती हैं। अनादिकाल स सम्पूर्ण भारत समान संस्कृति की भाव लहरी से व्याप्त हा है। महावीर का अहिंसा की लहर भारत के पूर्वी प्रदेश मे उठी किन्तु उसका सर्वाधिक प्रभाव गुजरात और वीर प्रसू भूमि राजस्थान मे रहा। पूर्वी प्रदेशो मे बसे हुए आय पश्चिमा प्रदेशों मे बसे हुए आर्यों से भिन्न प्रकृति के है।[2] डा द्विवेदी का यह मन्तव्य जातीय तथा क्षत्रीय धारणाओ पर आधारित होन के कारण मान्य नही हो सकता। इसी प्रकार य० कहना भी तर्क सम्मत नही है कि पूर्वी प्रदेशो मे रचा जानेवाला साहित्य रूढ़ि विरोधी है और पश्चिमा प्रदेशो मे रचित साहित्य रुढिबद्ध है। पश्चिमी प्रदेशो में रचित जनो के साहित्यको किसी भा रूप मे रूढिबद्ध काव्य नहीं कहा जा सकता। रूढ़ियो का विरोध करने मे मुनि रामसिंह और जोइन्दु उतने ही उत्साही है जितने बौद्ध सिद्ध। पुरुषो के अत्याचारो से कराहती नारी की चेतना स्वयम्भू के काव्य मे जिस रूप से प्रकट हुई उससे चमत्कृत हाकर राहुलजी को कहना पड़ा कि तुलसी ने स्वयम्भू की सीता की एकाध किरण भी अपनी सीता मे क्यों नही डाल दी? ब्राह्मणो द्वारा स्थापित रूढ़ियो के विरोध मे और उनके पौराणिक पात्रों के मानवीकरण में जैन कवियो ने जिस सा स और नवीन दृष्टि का परिचय दिया वह उनके लिये कम गौरव का बात नहीं है। हिन्दी के आदिकाल की एक नवीन कृति प्रकाश में आयी है—धारांदा जिसके स्वतंत्र चिन्तन का गम्भीर स्वर आगे चलकर सिर्फ कबीर में ही सुनाई पडा अ यत्र नही। पश्चिमी अपभ्रंश को जैनों की भाषा

१ हि दा साहित्य। २ हिन्दी साहित्य।

कहा जाता है किन्तु जैन रचयिताओं ने लोक परम्परा में बहती हुई आनेवाली लोकभाषा में भी साहित्य का सृजन किया। भरतेश्वर इसी प्रकार की कृति है। नवीन अनुसन्धानों के आधार पर ऐसे अनेक रास-ग्रन्थों का परिचय प्राप्त हुआ है जो पूर्णतया प्रामाणिक हैं तथा जिनका रचनाकाल बीसलदेव रासो से भी पहले है। रास-परम्परा में जो सबसे पहला प्रामाणिक ग्रंथ प्राप्त है वह है श्रीशालिभद्र सूरि रचित भरतेश्वरबाहुबलिरास। इसका रचनाकाल ११८४ ई० है। श्री अगरचन्द नाहटा ने इससे भी प्राचीन श्री वज्रसेनसूरि रचित भरतेश्वरबाहुबलीघोर नामक रास का उल्लेख किया है। कवि आसगु रचित चंदनबालारास (सं० १२५७) तथा स्थूलभद्ररास (वि० सं० १२७८) श्री विजयदेवसूरि रचित रेवंतगिरिरास (सं० १२) नेमिनाथरास (सं० १२७) इत्यादि ग्रंथ साहित्य की महत्वपूर्ण कृतियां हैं। इन ग्रंथों का प्रामाणिकता और साहित्यिकता निःसंदिग्ध है। धर्म का आधार लेने से ही किसी ग्रंथ को साहित्य की कोटि से निष्कासित करने देने पर दक्ष यज्ञ विध्वंस का लीला देखने को मिलती है। द का वह व जो हेमचन्द्र के व्याकरण में सुनाई पड़ा था अद्यावधि जन आचार्यों द्वारा प्रणीत इन रास ग्रंथों में भी सुनाई पड़ेगा। —

> परह आस किणि कारण किजइ
> साहस सइवर सिद्धि वराजइ।
> हाउ अनइ हाथ हथाया
> एह जि वीर तणउ वदिवार ॥ —भरतेश्वरबाहुबलिरास।

[दूसरे की आशा क्यों की जाय? साहस से स्वयं ही सिद्धि का वरण करना चाहिए। पास में दृढ़ हृदय और हाथ में हथियार हो तो वीरों का परिवार होता है।]

वीरत्व के अतिरिक्त इन ग्रन्थों ने परम्परा से जकड़े हुए आसक्तिपूर्ण मानव मन को स्वस्थ नैतिकता के खुले वातावरण में साँस लेने की प्रेरणा दी। भोगों का बहिष्कार नहीं उनका सम्यक नियोजन होना चाहिए। भोगों की सार्थकता उनके त्याग में है। शृङ्गार का पंकिल भूमि से ऊपर उठकर शान्त की मधुमती भूमिका में आत्मा को प्रतिष्ठित करना ही इन जैन कवियों का लक्ष्य है।

प्रेम काव्य—हिन्दी के मध्यकाल में नवीन विचारों की जो धारा दक्षिण-समुद्र से उत्तर के हिमालय तक प्रवाहित हुई उसने यहाँ की परिस्थितियों के अनुरूप अपने को व रूपों में प्रकट किया। आचार्य शुक्ल ने उसे निर्गुण तथा सगुण दो शाखाओं में विभक्त किया। उन्होंने पुनः निर्गुण का विभाजन प्रेमाश्रयी और ज्ञानाश्रयी में तथा सगुण का रामाश्रयी तथा कृष्णाश्रयी में किया। शुक्ल जी के इस विभाजन को प्रायः सभी इतिहास लेखकों ने स्वीकार कर लिया है। यह आश्चर्य की बात है कि उन्होंने अर्हन्त भक्ति से सम्बन्धित उस विशाल साहित्य को जो परिमाण और मूल्य दोनों ही दृष्टियों से काफी महत्वपूर्ण है इस विभाजन के अन्तर्गत यह कहकर स्थान नहीं दिया कि इनकी रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। जैन भक्ति की अखण्ड परम्परा १८वीं शती तक वर्तमान रही है और उसने भारतीय धर्मसचेतना को सुदृढ़ तथा जागरूक बनाये रखने का अनवरत प्रयास किया है।

लोक प्रचलित कथाओं का आश्रय लेकर उपदेश देने की प्रथा इस देश में पुरानी थी। ऐसी कथाओं का बृहत् संग्रह कथा सरित्सागर है। कथाओं के माध्यम से राजनीति की शिक्षा

'पंचतन्त्र' में भी दी जा चुकी थी। इस प्रणाली का धर्म के क्षेत्र में भी प्रयोग हुआ और आशातीत सफलता मिली। इस प्रणाली को जैन-संतों ने चरम सीमा पर पहुँचा दिया। धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर राग को विराग में शृंगार को शान्त में तथा जगत की जड़ता को आत्मा की चेतनता मे परिवर्तित करते हुए मानव-जीवन के मर्म का स्पर्श करनेवाली बड़ी सुन्दर कहानियाँ उन्होंने कहीं। उन्होंने प्रेम-कहानियाँ भी लिखी जिनकी प्रबन्ध शैली, प्रेमतत्त्व निरूपण, कथा-परम्परा और सूफियो की प्रेमाख्यान-परम्परा मे एक अद्भुत साम्य है। अत यह कहना कि प्रेम-कथाओ की परम्परा का सूत्रपात सूफियो के द्वारा हुआ है और वे भारत की भूमि मे रोपी गयी अरबी कलम हैं उचित नहीं है।

जैन मुनियों द्वारा रचित प्रेम-कथाओं में जो सबसे प्राचीन प्रम-कथा अब तक समझी जाती है वह है पादलिप्तसूरि की तरंगवती-कथा। चित्र-दर्शन के द्वारा इसमे प्रेमोत्पत्ति दिखलायी गयी है। णायाधम्म-कहा मे मल्ला की कथा आयी है जिससे छह राजकुमार प्रम करते हैं। लीलावती कहा मे प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन तथा सिंहल की राजकुमारी लीलावती का प्रेमाख्यान है। विक्कमसेणचरिय मे धनमार सेठ की कन्या सुन्दरी और राजा विक्रम की प्रेम-कथा है। इसमें गुण श्रवण द्वारा प्रम की उत्पत्ति दिखलायी गयी है। अपभ्रंश की प्रेम-कथाओ मे पउमसिरीचरिउ उल्लेखनीय है। धनपाल की भविसयत्तकहा और जिनहर्षसूरि की 'रयणसेहरनिवकहा सच्चे अर्थों मे प्रम कथा और धर्म-कथा दोनो है। ये दोनो ग्रन्थ जायसी के पद्मावत के पूर्वरूप हैं।

जैनो के पुराण-ग्रन्थो मे भी कुछ प्रेम-कथाएँ मिल जाती हैं। उत्तरपुराण के ७ वें पर्व में वनमाला की प्रम कथा और ७१वें पर्व मे उज्जयिना के राजपुत्र वज्रमुष्टि और उसी नगरी के सेठ की पुत्री मंगी की प्रम कहानी दी गयी है। हरिषेण के बृहत्कथाकोश मे भी कुछ प्रम कथाएँ संगृहीत है। नियुक्ति और भाष्यो मे भी एक से एक सुन्दर प्रम-कथाएँ आयी हैं।

देशी भाषा मे प्रम-कथाओ की परम्परा मे जो सबसे पहली कृति मिली है वह है ढोला मारूरादूहा इसका रचना काल दसवी शताब्दी के आसपास है। इसमें कछवाहा वंश के राजा नल के पुत्र ढोला और पूगल के राजा की कन्या मारवणी की प्रम कथा है। कुछ परिवर्तनो के साथ यह कथा सारे देश मे व्याप्त है। आज भी बिहार के सुदूर गाँवो मे कथा कहने वाली ऐसी बूढ़ी दादियाँ जीवित हैं जो राजा ढोलन और मरुआ की प्रम कहानी को गीतों मे गा-गाकर सुनाती है। हाँ जैसलमेर के रावल को इसका श्रेय अवश्य है कि उन्होने अपने समय मे प्राप्त दोहो का एकत्र करवा कर अपने आश्रित जैन कवि कुशललाभ (सं १६ ७) को कथा-सूत्र मिलाने की प्रेरणा दी।

कुशललाभ की लिखी हुई एक और प्रम कथा माधवानलकामकन्दलाचउपई है। माधव तथा कामकन्दला के प्रम को आधार बनाकर हिन्दी में तीन चार प्रेम कथाएँ और लिखी गयी है। कुशललाभ ने सं० १६१७ मे कुमार हरिराज के मनोरंजनार्थ ५५३ पद्यो मे इस कथा की रचना की। इनकी ये दोनो प्रमकथाएँ बड़ी लोकप्रिय हुइ।

सदयवत्ससावलिंगा' की प्रेम-कथा भी इसी परम्परा में आती है। अब्दुर्रहमान के सन्देश रासक मे नलचरित्र और महाभारत की कथा के साथ-साथ विनोद पूर्वक 'सदयवच्छ की कथा सुन जाने का उल्लेख है। जायसी भी इस कथा से परिचित थे और कुछ के अनुसार तो उसकी कुछ घटनाओं का नियोजन भी उन्होंने अपने 'पद्मावत' में किया है। बिहार मे सारंगा और सदावृक्ष' के नाम से इस कथा का व्यापक प्रचार है। अपने गुजराती तथा राजस्थानी रूप मे यह कथा

जैनधर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप है। श्री नाहटा ने एक खरतरगच्छीय जन कवि मुनि केशव रचित सदेवच्छसावलिंगाचौपई की चर्चा की है जिसका रचनाकाल सं १६९७ है।

जटमल नाहर ने अपना प्रम विलास स १६१३ मे लिखा। यह भी एक प्रम-कथा है जिसमें थोलनपुर की राजकुमारी प्रमलता तथा मंत्री-पुत्र प्रमविलास के प्रम की कहानी अंकित की गयी है। जटमल की एक और प्रम कथा है— विद्याविलासचउपई।

छीहल की पंचमहेला भी सिफ ६५ दोहो मे लिखित एक प्रेम कथानक है। इसमें पाँच सखियों के विरह का वर्णन है। ये सहेलियाँ पनघट पर स्वय कवि स वार्तालाप करती हैं। यह अपने ढग का अनठा प्रमाख्यान है।

जन कवि दामो र का मदनशतक प्रम कथा क सभी त वा स भरपूर हाने के कारण महत्व पूर्ण है। दामोदर ने एक ही कथानक को आधार बनाकर जर्ना मदनशतक नामक प्रमाख्यान की रचना दोहा मे की है वहां मदनकुमाररास के नाम स इस राजस्थानी मे भी लिखा है। मदनशतक मे कुशलनाभ के अनकरण पर दोहा के बाच बाच मे गद्य भी द दिया गया है। इसमे समस्याबन्धगुमलेख भी आय हैं जो ह टकृत का स्मरण िला देत ह।

जटमल का गाराबादलकी बात (सन् १६१३) ल ग्रदय का पदिमनाचरित्र (सन् १६५ ई) विशष रूप से इसलिय उ लेखनीय है कि य प्र यक्ष रूप से जायसा से प्रभावित हैं।

पद्मिनीचरित्र मे नाम मे कही कही अ तर है जस नागमनी के बदन प्रभावती है। ाघव और चेतन दो पडित ह जायसी की तरह क न ी इ यादि। इसमे उन व पनाओ म भा बचने का प्रयास है जो असम्भव है। चू कि य रचनाएँ जाय ी के बाद लिखी गया है इसलिय पद्मावत की कथा के मूल उत्स का इनसे कछ पता नही चलता। इसा प्रसग मे जायसी क पद्मावत के मूल स्रोत पर भी विचा कर लेना कुछ अवाछनीय नही होगा क्योकि क ना य ग्रथ प्रम कथाओ का शिरमौर है और दसरी बात य है कि इसक मूल स्रोत पर वचार क त समय जन उ्गम की ओर अधिक यान नही दिया गया है।

विक्रम का दसवी शता दी के आस पास की लिखी हुई क चना है— धनपाल की भविसयत्त कहा। विक्रम की १५वी शता दी (स १४ ७) की एक दूसरी रचना है जिनहषसूरिरचित रयणसेहरनिवकहा। ऐसा लगता है कि इन दोना ग था का सामने रखकर ही जायसी ने पदमावत का प्रणयन किया है। दूस ी से उ हाने कथा ला है और प ली से कल्पना। दसरी के रत्नशेखर ही जायसा के र नसेन हैं और र नवती । पद्मावता है। र नवता के लिये पद्मावती शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (ताव वरगिंदो नाग राया पउमावई देवी मंजुत्ती) जायसी को यही नाम अच्छा लगा होगा। पद्मावत में पद्मावती के गुण का प्रशसा राजा सुग्गे क ारा सनता है प्राकृत कथा मे किन्नर-दम्पत्ति के द्वारा। राजा योगी होकर सिंहलगढ के लिये प्रस्थान करता है। पद्मावत की तरह ही उसकी भेंट रानी स मदिर मे हाली है पद्मावती का पता लगान मे मत्री मतिसागर को अपार कष्ट झेलना पडता है। अल्लाउद्दान के द्वारा पद्मावती क रण का चेष्टा मे जायसा का आधार इतिहास है। इसके मूल में राघवचेतन की ऐन्द्रजालिक क्रिया है। र नवता कथा मे भा रानी का ऐन्द्रजालिक अपहरण होता है। भविसयत्तकहा मे भी नायिका का अपहरण नायक के भाई द्वारा होता है। पद्मावत की तरह पशसा के दाम्पत्य प्रम का भी चित्रण इनमे हुआ है।

'भविसयत्तकहा' में वणिक धनदत्त की समुद्र-यात्रा और रत्नसेन की समुद्र यात्रा में अत्यधिक साम्य है—भावों में ही नहीं शब्दों में भी। इसी प्रकार प्रेम विरह, मिलन युद्ध आदि का भी वर्णन भी दोनों म समान है। यद्यपि इन जैन-कथाओं का अन्तिम लक्ष्य धर्म-साधन का माहात्म्य बतलाना है किन्तु रसात्मकता की दृष्टि से इनमें कोई कमी नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जायसी में संकेत है और इनमे रूप है। जायसी मे एक बात अवश्य खटकती है कि नागमती को दुनिया का गोरखधन्धा कहकर भी कवि उसका साहित्यिक परिहार करने मे समथ नही हो सका। नागमती जैसी रूपवाली स्त्रियाँ सिहलद्वीप मे भल ही पानी भरती हो किन्तु हृदय तो उसे ही मिला है। हृदय की कोमलता का आभार पाकर नागमती अपने प्रकाश से पद्मावती को भी प्रभाहीन कर देती है। उसके विरह से द्रवित होकर पाठको की गीली आँखें अन्त-अन्त तक नही सूखती। इस लौकिक रस के समक्ष जायसी का सारा अलौकिक ईश्वरोन्मुख प्रेम तुच्छ सा प्रतीत होता है। रयणसेहरिकहा की आत्मा रस रूप में पद्मावत मे वर्तमान है। पद्मावत का अन्त भी शान्त रस परक हुआ है। रत्नसेन की मृत्यु और पद्मिनी के सती होने के पश्चात् कवि ने जगत की नश्वरता की चर्चा की है —

> कहाँ सो रतनसेनि अस राजा
> कहाँ सुवा असि बुधि उपराजा
> कहाँ सुरूप पदमावती रानी
> कोई न रहा जग रही कहानी

जीवन मे धर्म या अर्थ ही सब कुछ नही हैं। कभी कभी ऐसे भी क्षण आते हैं जब आचार के बन्धनो से तनी हुई मानवी नश ढीली होकर राह के थके बटोही की तरह कुछ सुस्ताना चाहती है और मानव का मन अपने से बहुत दूर बसी हुई काल्पनिक प्रिया की स्मृति मे कुछ उन्मन उन्मन हो उठता है। जिन वस्तुओ को वह प्रत्यक्ष जीवन की कठोरता के बीच नही पा सकता उसे वह कथा के लोक मे पाना चाहता है। महान् आदर्शों से परिचालित आत्माएँ भी कभी कभी विशुद्ध आनन्द की तृषा से आर्त होकर पुकार उठती हैं। ये सब प्रेम-कथाएँ इन्ही मार्मिक क्षणो की मार्मिक उद्भावनाएँ है। नदी के प्रवाह की तरह अज्ञात स्रोतो से निकलकर जन मानस की भूमि को रस प्लावित करती हुई ये प्रेम कहानियाँ अनन्त-काल से बहती चली आ रही है और बहती रहेंगी। नदी मे बाँध बाँधकर जिस प्रकार नहरें निकाल ली जाती हैं उसी प्रकार इन कथाओ मे कुछ ऐतिहासिक तथा काल्पनिक प्रसगो का पुट देकर अपनी धर्म भावना के अनुकूल मोड लिया गया होगा। शुरू-शुरू मे ये कहानियाँ अपने मूल-स्रोत के बहुत समीप रही होंगी किन्तु कालान्तर मे वे इतनी घिस गयी कि मूल कथा एकदम लुप्त हो गयी और सत्यनारायण-कथा की तरह उनका माहात्म्य ही शेष रह गया। पदमावती मृगावती लीलावती नाम से ख्यात कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। जैन कवियों ने उसी मूल स्रोत से प्रभाव ग्रहण कर अनेक धार्मिक और प्रेम-कथाएँ लिखीं। उन्होंने सूफियो को भी प्रभावित किया और स्वयं प्रभावित भी हुए। यही स्वाभाविक भी है। कथा मे महत्तम का सामान्य बताने की इनकी दृष्टि सघर्षपूर्ण परिस्थितियो का सामना करते हुए साधना के चरम बिन्दु पर पहुँचने का इनका प्रयास प्रेम प्रसंगों के बीच बीच में धार्मिक या दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण तथा कथा के अन्त में शान्त-रस की निष्पत्ति—यह सब कुछ

विलक्षण है सराहनीय है। अत इस रूप मे सूफी साहित्य पर नका ऋण कितना और कैसा है कहना व्यर्थ है।

सन्त साहित्य —हिन्दी साहित्य मे सन्त श'' सामा यत नाथपथियों तथा उन निर्गुणी सतो के लिये प्रयुक्त होता है जो कबीर दादू सुन्दरदास आदि की परम्परा मे आते हैं। जिन विचारो को लेकर ये सन्त आये उनकी पृष्ठभूमि प ले ही निर्मित ो चुका था और इनके निर्माण में शव शाक्त बौद्ध जैन नाथपथी सभी का ाथ था। वस्तुत व लाक धम था जो कबीर की अक्खड वाणी में आगे चलकर प्रकट हुआ।

सन्त-सा्ित्य के तीन अग माने गये है—विवचन चेतावना और खडन। इनका ईश्वर सगुण निर्गुण से प होकर भी प्रम का आधा बना। साधना और प्रम—य े उसका प्राप्ति का आधार है। गोरखनाथ न अपन पथ के प्रचार मे जिस हठयोग का आधार लिया था वही हठयोग स त मत का साधना का प्रधान अग हुआ। नाथ स प्रदाय मे ोग के मह व की स्वीकृति का प्ररणा स कौल-पथ को माना गया है कि तु कौलो म जा आभचार का वत्ति उसकी नि दा गोरखनाथ न मा की है। जन धम ा योग प्रधान धम है। दाया को पावकर द्रिया का अपने अधान कर कवलज्ञान का प्राप्ति जन साधक का अ तिम ल य ोता है य स्वीकार करना तक सगत है कि सिद्धा एवं नाथपथियो पर पातजलि के योगशास्त्र तथा कौला के ठयाग क अतिरिक्त जना के योग सिद्धा तो का भी प्रभाव पडा ागा। ग गारखनाथ न जिन बार पथा का अ तर्भाव नाथपथ मे किया था उनमे पारस और नेमि थ भी थ। सिद्धा के समय मे कुछ ऐस तान्त्रिक जन सम्प्रदायो का उल्लख मिलता है जिनमे याग का प्रधानता था तथा जिनका वश वि यास कौलो की तरह था। श्रमण क मध्यान्तानुगमशास्त्र के चीना अनवा म जिस न ग सि मो स प्रदाय का उल्लख है उस प्रोफेसर उ न याय शास्त्र बताया है कि तु कि सिग उसस ि ा जनो तान्त्रिक सम्प्रदाय का अथ लेता है जा निग्र थ जैनियो की र शाखा था। सका दो प्रकार का साधना थी आठ साधनाएँ जो श्रत ज्ञान स आयी थी तथा आठ साधना अनभव जनित। । बरुआ ने आजीविको के कुछ सम्प्रदायो की तुलना नाथपथियो से की है और जन पर परा से नाथ पर परा का सम्ब ध जोडा है।

इ द्रिय साधन, मन साधन प्राण साधन आ ि के ारा ष चक्र भदन की प्रक्रिया तथा कुण्डलिनी को जाग्रत कर अनहद नाद आदि का अनभूति आदि यौगिक क्रियाएँ नाथपथी तथा सतो मे वर्तमान है। इडा तथा पिंगला के मध्य मे प्रवाि त सुषुम्ना क ज्ञान की आवश्यकता कबीर ने बतायी है। हि दी के जैन कवि विश्वभूषण मे इन यौगिक क्रियाओ के प्रति उ मुखता का भाव है। कालान्तर मे गुह्य साधनो की अधिकता मानव का स्वाभाविक वत्तियो के उ मेष के स्थान पर हठयोग द्वारा अस्वाभाविक तथा आरोपित वृत्तियो की प्रस्थापना तथा लोक भावना की उपेक्षा के कारण सन्तो ने सहज समाधि तथा चित्त शुद्धि पर अधिक जोर देना प्रारम्भ किया। कबीर न सन्तो सहज समाधि भली कहकर जहाँ सहज जीवन पर जा दिया वहाँ जोइन्दु ने चित्त शुद्धि को सबसे बडा तत्त्व बतलाया।

---

१ सिद्ध-साहित्य।

जहिं भावइ तहिं जाहि जिय, जं भावइ करि तंजि ।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्तहं सुद्धि ण जंजि ।।—परमात्मप्रकाश ।

[हे जीव ! जहाँ सुखी हो जाओ और जो इच्छा हो करो किन्तु जबतक चित्त शुद्ध नहीं होता, तबतक मोक्ष नहीं मिलने का]

बारहवीं शताब्दी में लिखित धाराधंदा में शील और संयम पर ही ध्यान देने की बात कही गयी है—

सो अप्पा सजमु सीलु गुरु अप्पंउ दंसण णाणु ।
वयलउ संजमु हउ गुण आराधंदा जो जिण सासणि साह ।।

सत्रहवीं शताब्दी मे उत्पन्न उदयराज जती ने गुण बावनी में अन्तःकरण को निर्मल बनाने पर जोर दिया । जटा बढ़ाने से क्या होता है यदि छल और पाखण्ड नहीं छोड़ा । सिर मुड़ाने से क्या लाभ यदि मन नहीं मुडा । घर छोड़ने से क्या लाभ यदि आत्मा को नहीं समझ सके ।

जटा वधाया किसु जांम पाखंड न छंडयउ
मस्तक मूड्यां किसुं मन जौं माहि न मूडयउ
जुगो किसु मैले किये जो मन माहि मइलो रहइ
घरबार त यां सीघउ किसुं अप्प बूझी उठी कहइ

कबीर मध्ययुग के सबसे बड़े मौलिक विचारक थे । मानव मानव के बीच वर्तमान विभेद की लक्ष्मणरेखा को लाँघकर उन्होंने जिस सामाजिक एवं आध्यात्मिक साम्यवाद की विचार-सरणि उपस्थित की उसकी आभा सम्पूर्ण मध्ययुग के साहित्य में विलक्षण है । रामानन्द जैसे स्वतंत्र चिन्तक ने भी भक्ति से बाहर सामाजिक मान्यता के रूप में वर्णाश्रम को मान लिया था किन्तु कबीर ने उसके मूल सिद्धान्त पर ही आघात कर मनुष्य मात्र की समानता का विचार उपस्थित किया । उनका साम्यवाद न तो हीगेलका का द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद है और न मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद । मूर के नैतिक आदर्शवादी साम्यवाद से भी बहु भिन्न है । प्लेटो के सामाजिक साम्यवाद' को तो कार्यरूप मे परिणत करना ही असम्भव है । कबीर का साम्यवाद इन सबसे ऊँची चीज है । उसमें एक तरफ इस्लाम की व्यावहारिकता तथा दूसरी तरफ भारतीय अद्वैतवादी दर्शन का सुन्दर समन्वय है । जैनों की सम्यक दृष्टि का प्रकारान्तर से इस पर काफी प्रभाव है । सोलहवीं शताब्दी में उत्पन्न जैन कवि महात्मा आनन्दघन में मानव-मानव में वर्तमान मूलभूत एकता के कथन होते हैं । कबीर से इनमें यही अन्तर है कि जहाँ एक की भाषा झाड़ने और फटकारने वाली है वहाँ दूसरे की वाणी में कोमलता है नम्रता है:—

राम कहो रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री ।
पारस नाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ।।
भाजन भेद कहावत नाना एक मृत्तिका रूप री ।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री ।।

सिद्ध सन्त नाथ जैन—सभी ने गुरु की महिमा को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है । वस्तुतः साधना का दुरूह मार्ग गुरु के सम्यक् निर्देशन के अभाव में तय नहीं किया जा सकता । इसीसे

कबीर ने गुरु और गोविन्द मे प्रथम को प्राथमिकता दी है। दादू के मत से सद्गुरु के मिलने से मुक्ति का द्वार खुल जाता है और साहब का सहज ही दीदार हो जाता है— सद्गुरु मिलै तो पाइये भक्ति मुक्ति भंडार।' किन्तु गुरु के प्रति सन्तों की ये उक्तियाँ ज्ञान के अंश हैं भाव के नहीं। श्री कुशललाभ ने अपने पूज्य गुरु आचार्य पूज्यवाहण के स्वागत मे जिस भाव विह्वल पदावली का प्रयोग किया है, वह सम्पूर्ण सन्त-साहित्य के लिये अज्ञेय है अज्ञात है। सन्तों मे तथ्यपरता है जैनियों मे भावपरता।

आव्यो मास असाढ़ झबूके दामिनी रे।
जोवइ जोवइ प्रीयडा वाट सकोमल कामिनी रे।
चातक मधुरइ सादिकि प्रीउ प्रीउ उचरइ रे।
बरसइ घण बरसात सजल सरवइ भाइ रे।
इण अवसरि श्री पूज्य महामोटा जती रे।
श्रावकना सुख हेत आया जम्बावती रे।
जोवउ अमगुरु रीति प्रतीति वधइ वली रे।
दिक्षा रमणी साथ रमइ मनवी रली रे॥

—(ऐतिहासिक जन काव्य संग्रह)

आत्मा और परमात्मा के प्रणय की भावात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद के नाम से पुकारी जाती है। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद की परम्परा को ईरानी खजूर का भारतीय कलम कहा है किन्तु जयशंकर प्रसाद जैसे कुछ आलोचक इसकी परम्परा को खींचकर वेदो तक ले जाते है। जन साहित्य में रहस्यवाद का मूलरूप ई सन् की प्रथम शताब्दी मे लिखित आचाय कुन्दकुन्द के भाव पाहुड में दृष्टिगोचर होता है। मुनि रामसिंह के दोहापाहुड तथा जोइन्दु के परमात्मप्रकाश में रहस्यवाद के उस स्वर की ध्वनि सुनाई पडती है जिसकी प्रतिध्वनि आगे चलकर कबीर के साहित्य में सुन पडी। यद्यपि जन धर्म ज्ञानमूलक है किन्तु हिन्दी का जन कवि ज्ञान की अपेक्षा भाव पर अधिक जोर देता है। उसका ज्ञान भी प्रेममूलक है कोरा ज्ञान नहीं। सत्रहवी शताब्दी में उत्पन्न बनारसीदास आनन्दघन विश्वभूषण आदि मे भावात्मक रहस्यवाद अपने उत्कृष्टतम रूप मे मिलता है। यह कहना कठिन है कि इसके मूल में जन परम्परा की प्रेरणा है या कबीर जसे सन्तो का प्रभाव है। सम्भावना तो यही की जाती है कि सभी के समन्वय ने उनके मानस-तन्तुओ का निर्माण किया होगा। अपने को राम की बहुरिया मानकर कबीर ने जिस दाम्पत्य भाव की साधना की उस साधना की ज्योति ने बनारसीदास जसे सन्तो का मार्ग-दर्शन न किया होगा यह कैसे कहा जा सकता है जब कि हम उनके प्रिय और प्रियतम के विरह की घडियो मे वही तड़पन वही बेकली, मिलन की वही लालसा और प्रियतम के घर आने पर उल्लसित आनन्द की वही थिरकन पाते हैं। प्रियतम से बिछुड़ जाने पर कबीर की विरहिणी का जिया मछली की तरह तड़पने लगता है —

तलफै बिनु बालम मोर जिया
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया
तलफ तलफ कै भोर किया॥

बनारसीदास की विरहिणी भी अपने अलौकिक प्रियतम के विरह में न जाने कब से बेचैन है। वह अपनी बेकली में भी मिलन की आस लगाये हुए है —

मैं विरहिन पिय के आधीन
यों तलफै ज्यों जल बिनु मीन
मेरे मन का प्यारा जो मिलै
मेरा सहज सनेही जो मिलै ॥—बनारसीविलास।

उसके हृदय में एक ही प्यास है—पिया मिलन की किन्तु वह निर्मोही न जाने कहाँ बैठा है। विनयभूषण कहते हैं—

लगु रही मो हिय हो दरसन की पिया दरसन की आस।
दरसन काहि न दीजिए ॥

आनन्दघन की विरहिणी दिन रात मीरा की तरह पिय का पथ निहारा करती है। उसे डर है कि कहीं उसका प्रियतम उसे भूल न गया हो। प्रियतम के लिये तो उसके समान लाखों हैं किन्तु उसके लिये तो उसका प्यारा ही सब कुछ है —

निशिदिन जोऊँ तोरि वाट डो घेर आओ रे ढोला।
मुज सारिखा तुज लाख है मेरे तुहीं अमोला ॥

बनारसीदास की विरहिणी के हृदय मे एक ही कामना शेष रह गयी है कि अब उसका प्रियतम घर लौट आवेगा तो वह अपना सवस्व उसके चरणों पर निछावर कर देगी —

जउ देखौं पिउ की उनहार
तन मन सबस डारौं वार

सौभाग्य से एक दिन ऐसा आता है कि कबीर और बनारसीदास दोनो की विरहिणियो की साधना पूर्ण हो जाती है और उनके बालम अपनी-अपनी प्रियतमा की पुकार पर घर चले आते हैं। इस मिलन में कितनी अनभूति कितनी आनन्दजन्य मनहार और कितना उल्लास है। कबीर की नायिका अपनी आँखों मे आनन्द के आंसू भर कर पुकार उठती है —

दुलहिनि गावहु मंगलाचार।
हम घर आये हो राजा राम भरतार ॥

दुलहिन होने के कारण उसमें लाज का अवगुंठन शेष है किन्तु बनारसीदास की दुलहिन का तन-मन आनन्द के इस सम्भार को संभाल नहीं पाता और लज्जा का आवरण भी अस्तव्यस्त हो जाता है। बालम को देखने के साथ ही आँचल स्वतः खिसक जाता है और रही-सही लाज भी भग जाती है—

बालम तुहुँ तन चितवनि गागर फूटी।
अँचरा गौ फहराय सरम गै छूटी।

जैन-कवियों ने आध्यात्मिक-विवाहों के भी रूपक बाँधे हैं। चेतनरूपी दुलहा के साथ मोक्षरूपी रमणी का विवाह होने पर देवताओं के साथ जैन कवि अजयराज पाटणी भी आनन्द में मग्न हो जाते हैं।

उनका 'शिवरमणी का विवाह' रूपक-काव्य इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण है। हिन्दी के अनेक जैन-कवियों में सन्तोंकी-सी रूपकात्मक वाणियाँ अन्योक्तियाँ तथा पहेलिया दृष्टिगोचर होती हैं। बनारसीदास का 'रामायण घट माँहि' पद रूपकोक्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। सन्तो ने अपने रूपकों के उपादान सामान्य जीवन से लिये हैं। ज्ञान के गूढ़ तत्वो को समझाने के लिये ताना भरनी चरखा जैसे ग्रामीण जीवन में प्रयोग होनेवाले उपादानो का आधार उन्होंने लिया है। उसी अनुकरण पर अजयराज पाटणी का चरखा चउपई इस दिशा मे एक प्रयोग है। जैन साहित्य मे रूपको मे निबद्ध आध्यात्मिक फागुओं की अनोखी छटा दर्शनीय है। जैसे—

पिया बिनु कासौं खेलौं होरी।
आतमराम पिया घर नाही मोकू होरी कोरी।
एक बार प्रीतम हम खेल उपसम केसरि घोरी।
द्यानत वह समया कब पाऊँ सुमति कहै कर जोरी॥

कहीं-कहीं इन जन कवियो ने अपने दाशनिक ग्र था स भा रूाको के उपादान ढूढे हैं किन्तु उनमें वह सरसता नहीं आ पायी है जो सामा य-जीवन से लिये गये उपादानो मे है।

इन जनो सिद्धो नाथो तथा सन्तो की विचार प्रणाला मे ही नही वरम् शली प्रतीक योजना तथा उनकी साधना प्रणाली में प्रयुक्त श ो मे भी अद्भुत साम्य है। यह स य है कि शू य सहज निरंजन, चन्द्र सूर्य शिव आदि श ो का सवत्र एक ही अथ नही है और न काल के बहते हुए प्रवाह में ऐसा होना सम्भव भी है किन्तु उनकी चिन्तन प्रणालो विशिष्ट भावधारा अभिव्यक्ति का ढंग सबको देखकर ऐसा लगता है कि ये सभी श तथा भाव त कालीन समाज की विचार धारा मे ही व्याप्त थे और उनकी परम्परा पुरानी थी। उसी मूल स्रोत स जनो बौद्धो तथा अन्य सभी सम्प्रदायों ने अपने जीवन के तत्त्व ग्रहण किये। इस सम्ब ध मे एक का दूसरे पर प्रभाव दिखाना तर्कशास्त्र को शिर के बल खडा करने जसा प्रयास है। जन मानस के अज्ञात स्रोतो से बहकर आनेवाली परम्परा की यह तटिनी आधुनिक हि दी के जन कवियो के मानस कूलो से भी टकराई जिसकी मधुमय अभिव्यक्ति उनके साहि य मे शत शत रूपो मे हुई है।

●●●

मानतुङ्ग

डा० नेमिचन्द्र शास्त्री

[बुद्धि-भाग और भगवद्भक्ति में लीन करने के हेतु जैन कवि मानतुङ्ग ने मयूर और बाण के समान स्तोत्र-काव्य का प्रणयन किया है। इनका भक्तामर-स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत है। भाषा-सौष्ठव एवं भाव गाम्भीर्य की दृष्टि से भारतीय-वाङ्मय में उनका स्थान अद्वितीय है।]

मनुष्य के मन को सासारिक ऐश्वर्यों भौतिक सुखो एवं ऐन्द्रियिक भोगो से विमुखकर बुद्धिभाग और भगवद्भक्ति में लीन करने के हेतु जन कवि मानतुंग ने मयूर और बाण के समान स्तोत्र काव्य का प्रणयन किया है। इनका भक्तामर-स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायो मे समान रूप से समाहृत है। कवि की यह रचना इतनी लोकप्रिय रही है जिससे इसके प्रत्येक अन्तिम चरण को लेकर समस्यापूर्त्यात्मिक स्तोत्र काव्य लिखे जाते रहे हैं। इस स्तोत्र की कई समस्यापूर्त्तियां उपलब्ध हैं।

आचार्य कवि मानतुंग के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे अनेक विरोधी विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। भट्टारक सकलचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारीरायमल्ल कृत भक्तामरवृत्ति में जो कि विक्रम संवत् १६६७ में समाप्त हुई है लिखा है कि धाराधीश भोज की राजसभा में कालिदास भारवि माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंग ने ४८ साकलो को तोडकर जन धर्म की प्रभावना की तथा राजा भोज को जन धर्म का श्रद्धालु बनाया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषण कृत भक्तामरचरित मे है। इसमें भोज भर्तृहरि शुभचन्द्र कालिदास धनञ्जय वररुचि और मानतुंग को समकालीन लिखा है। इसी आख्यान मे द्विसन्धान महाकाव्य के रचयिता धनञ्जय को मानतुंग का शिष्य भी बताया है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टीका के अन्तर्गत भक्तामर स्तोत्र की टीका का उत्थानिका में लिखा है —

मानतुङ्गनामक सिताम्बरो महाकवि: निर्ग्रन्थाचार्यवर्येरपनीतमहाव्याधिप्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवता परमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्ट: भक्तामर इत्यादि।

---

१ इसका अनुवाद पं० उदयलाल काशलीवाल द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

२ यह कथा जैन इतिहास-विशारद स्व० पं० नाथूराम जी प्रेमी ने सन् १९२६ मे बम्बई से प्रकाशित भक्तामर-स्तोत्र की भूमिका में लिखी है।

अर्थात्—मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्य ने उनको महाव्याधि से मुक्त कर दिया इससे उन्होंने दिगम्बरमार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा भगवन्! अब मैं क्या करूँ? आचार्य ने आज्ञा दी कि परमात्मा के गुणों का स्तोत्र बनाओ। फलत आदेशानुसार भक्तामरस्तोत्र का प्रणयन किया गया।

वि स १३३४ के श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरित मे मानतुंग के सम्बन्ध मे लिखा है[1]—

ये काशी निवासी धनदेव सेठ के पुत्र थे। पहले इन्होने एक दिगम्बर मुनि से दीक्षा ली और इनका नाम चारुकीर्ति महाकीर्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुयायिनी श्राविका ने उनके कमण्डलु के जल मे त्रसजीव बतलाये जिससे उन्हे दिगम्बर चर्या से विरक्ति हो गयी और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचाय के निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्था में भक्तामर की उन्होने रचना की।

वि सं १३६१ के मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ मे लिखा है कि मयूर और बाण नामक साला बहनोई पण्डित थे। वे अपनी विद्वत्ता से एक-दूसरे के साथ स्पर्द्धा करते थे। एक बार बाण पंडित अपनी बहिन से मिलने गया और उसके घर जाकर रात मे द्वार पर सो गया। उसकी मानवती बहिन रात मे रूठी हुई थी और बहनोई रात भर मनाता रहा। प्रात होने पर मयूर ने कहा—

हे तन्वंगी! प्राय सारी रात बीत चली चन्द्रमा क्षीण सा हो रहा है यह प्रदीप मानो निद्रा के अधीन होकर झूम रहा है और मान की सीमा तो प्रणाम करने तक होती है अहो! तो भी तुम क्रोध नही छोड रही हो।

काव्य के तीन पाद बार बार सुनकर बाण ने चौथा चरण बना कर कहा— हे चण्डि! स्तनो के निकटवर्ती होने से तुम्हारा हृदय कठिन हो गया है—

गतप्राया रात्रि कृशतनु शशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽय निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि क्रुधमहो
कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्[2] ॥

भाई के मुख से चतुर्थ पाद को सुनकर वह लज्जित हो गयी और अभिशाप दिया कि तुम कुष्ठी हो जाओ। बाण पतिव्रता के शाप से तत्काल कुष्ठी हो गया। प्रातःकाल शाल से शरीर ढक कर वह राजसभा में आया। मयूर ने वरकोढी कहकर बाण का स्वागत किया। बाण ने

---

१ मानतुंगसूरिचरितम्—पृ ११२ ११७—सिंघी ग्रन्थमाला १९४ ई।

२ प्रबन्धचिन्तामणि—सिंघी ग्रन्थमाला सन् १९३३ पृ ४४। प्रभावकचरित के कथानक में बाण और मयूर को ससुर और दामाद लिखा है। प्रबन्धचिन्तामणि के श्लोक के चतुर्थ चरण में 'चण्डि' के स्थान पर 'सुभ्रु' पाठ पाया जाता है।

३ 'वरकोढी' प्राकृत पद का पदच्छेद करने पर वरक ओढी—शाल ओढ़कर आये हो तथा अच्छे कुष्ठी बने हो, ये दोनों अर्थ निकलते हैं।

कुष्ठरोग का निवारण किया और सूर्य के स्तवन द्वारा कुष्ठरोग से मुक्ति पायी। 'बाण ने भी अपने हाथ-पैर काट लिये और चण्डिका की—'मा भांक्षीर्विभ्रमम्'—स्तुति द्वारा अपना शरीर स्वस्थ कर चमत्कार उपस्थित किया।

इन चमत्कारपूर्ण दृश्यों के घटित होने के अनन्तर किसी सम्प्रदाय-विद्वेषी ने राजा से कहा कि यदि जैन धर्मावलम्बियों में कोई ऐसा चमत्कारी हो तभी जैन यहाँ रहें, अन्यथा उन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया जाय। मानतुंग आचार्य को बुलाकर राजा ने कहा—'अपने देवताओं के कुछ चमत्कार दिखलाओ'। वे बोले—हमारे देवता तो वीतरागी हैं, उनके चमत्कार क्या हो सकते हैं। हाँ उनके किंकर देवताओं का चमत्कार देखा जा सकता है। इस प्रकार कहकर अपने शरीर को चवालीस हथकडियों और बेड़ियों से कसवा कर उस नगर के श्रीयुगादिदेव के मन्दिर के पिछले भाग में बैठ गये। भक्तामर-स्तोत्र की रचना करने से उनकी बेड़ियाँ टूट गयीं और मन्दिर को अपने सम्मुख परिवर्तित कर शासन का प्रभाव दिखलाया[1]।

मानतुंग के सम्बन्ध में एक इतिवृत्त श्वेताम्बराचार्य गुणाकर का भी उपलब्ध है। उन्होंने भक्तामरस्तोत्रवृत्ति में जिसकी रचना वि सं १४२६ में हुई है प्रभावकचरित के समान ही मयूर और बाण को श्वसुर एवं जामाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डीशतक का निर्देश किया है। राजा का नाम वृद्धभोज है जिसकी सभा में मानतुंग उपस्थित हुए थे।

मानतुग सम्बन्धी इन परस्पर विरोधी आख्यानो के अध्ययन से निम्न लिखित तथ्य उपस्थित होते है —

(१) मयूर बाण कालिदास और माघ आदि प्रसिद्ध कवियों का एकत्र समवाय दिखलाने की प्रथा १ वीं शती से १६ वीं शती तक के साहित्य में उपलब्ध है। बल्लाल कवि विरचित भोज प्रबन्ध में भी इस प्रकार के अनेक इतिवृत्त हैं।

(२) मानतुंग को श्वेताम्बर आख्यानो में पहले दिगम्बर और पश्चात् श्वेताम्बर माना गया है। इसी परम्परा के आधार पर दिगम्बर लेखकों ने पहले इन्हे श्वेताम्बर और पश्चात् दिगम्बर लिखा है। यह कल्पना सम्प्रदाय मोह का ही फल है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जब परस्पर कटुता उत्पन्न हो गयी और मान्य आचार्यो को अपनी ओर खींचने लगे तो इस प्रकार के विकृत इतिवृत्तो का साहित्य में प्रविष्ट होना अनिवार्य हो गया।

(३) मानतुंग ने भक्तामरस्तोत्र की रचना की। दोनो सम्प्रदायो ने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार इसे अपनाया। आरम्भ में इस स्तोत्र में ४८ काव्य-पद्य थे। प्रत्येक पद्य में काव्यत्व रहने के कारण ही ४८ पद्यों को ४८ काव्य कहा गया है। इन ४८ पद्यो में से श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने अशोकवृक्ष सिंहासन छत्र और चमर इन चार प्रातिहार्यों के निरूपक पद्यो को ग्रहण किया तथा दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि भामण्डल और दिव्यध्वनि इन चार प्रातिहार्यों के विवेचक पद्यों को निकालकर इस स्तोत्र में ४४ पद्य ही माने। इधर दिगम्बर सम्प्रदाय की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निकाले हुए उक्त चार प्रातिहार्यों के बोधक चार नये पद्य और

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि सिंघी ग्रंथमाला, १९३३ ई० पृष्ठ ४४-४५।

जोड़कर पद्यों की संख्या ५२ गढ़ ली गयी।[1] वस्तुत इस स्तोत्र काव्य में ४८ ही मूल पद्य हैं।

(४) स्तोत्र-काव्यों का महत्त्व दिखलाने के लिए उनके साथ चमत्कारपूर्ण आख्यानों की योजना की गयी है। मयूर पुष्पदन्त बाण प्रभृति कवियो के स्तोत्रो के पीछे कोई-न कोई चमत्कार पूर्ण आख्यान वर्तमान है। भगवद्भक्ति चाहे वह वीतरागी की हो या सरागी की अभीष्ट पूर्ति करती है। पूजा पद्धति के आरम्भ होने के पूर्व स्तोत्रो की परम्परा ही भक्ति के क्षत्र मे विद्यमान थी। यही कारण है कि भक्तामर, एकीभाव और कल्याणमन्दिर प्रभृति जैन स्तोत्रो के साथ भी चमत्कार पूर्ण आख्यान जुडे हुए हैं। इन आख्यानों मे ऐतिहासिक तथ्य हो या न हो पर इतना सत्य है कि एकाग्रतापूर्वक स्तोत्र पाठ करने से आत्म शुद्धि उत्पन्न होती है और यही आंशिक शुद्धि अभीष्ट की सिद्धि मे सहायक होती है।

समय विचार :

मानतुग के समय निर्णय पर उक्त विरोधी आख्यानो से इतना प्रकाश अवश्य पडता है कि वे हर्ष अथवा भोज के समकालीन है। अत सवप्रथम भोज की समकालीनता पर विचार किया जाता है। इतिहास में बताया गया है कि सीमक हष के बाद उसका यशस्वी पुत्र मुञ्ज उपनाम वाक्पति वि सं १ ३१ (ई ९७४) मे मालवा की गद्दी पर आसीन हुआ। वाक्पति मुञ्ज ने लाट कर्णाटक चोल और केरल के साथ युद्ध किया था। यह योद्धा तो था ही साथ ही कला और साहित्य का संरक्षक भी। उसने धारा नगरी मे अनेक तालाब खुदवाये थे। उसकी सभा में पद्मगुप्त धनञ्जय धनिक और हलायुध प्रभृति ख्यातिनामसाहित्यिक रहते थे। मुञ्ज के अनन्तर सिन्धुराज या नवसाहसाङ्क सिंहासनासीन हुआ। सिन्धुराज के अ॰ कालीन शासन के पश्चात् उसका पुत्र भोज परमोरा की गद्दी पर बठा। इस राजकुल का य॰ सवशक्तिमान और यशस्वी नृपति था। इसके राज्यासीन होने का समय ई सन् १ ८ है। भोज ने दक्षिणी राजाओं के साथ तो युद्ध किया ही पर तुरुष्क एव गुजरात के कीर्त्तिराज के साथ भी युद्ध किया। मेरुतुग के अनुसार[2] भोज ने पचपन वष सात मास तीन दिन रा य किया था। भोज विद्या रसिक था। उसके द्वारा रचित लगभग एक दजन ग्र थ हैं। इ॰ही भोज के समय मे आचाय प्रभाचन्द्र ने अपना प्रमेयकमल मार्त्तण्ड लिखा है —

---

१ अभी एक भक्तामर दि० जैन समाज भागलपुर (वी स २४९) से प्रकाशित हुआ है जिसमें 'वृष्टिर्दिव सुमनसां परित प्रपात (३५) कुष्णामनुष्यसहस्रामपि कोटिसंख्या (३७) देव त्वदीयसकलामलकेवलाव (३९) पद्य अधिक मुद्रित हैं।

श्वेताम्बर मान्यता का एक भक्तामर हमें मिला है जिसमें गम्भीरताररव (३२) मन्दार सुन्दरनमेरुसुपारिजात (३३) शुम्भत्प्रभावलय (३४) स्वर्गापवग (३५) पद्य मुद्रित न॰ी हैं। ३१ वें पद्य के पश्चात् ३६ वें पद्य का पाठ ३२ वें पद्य के रूप में दिया गया है।

२ पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि मासा सप्त दिनत्रयम।
भोक्तव्यं भोजराजेन सगौडं दक्षिणापथम्॥

—प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २२ सिंघी ग्रन्थमाला १९३३।

"श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति" [१]

श्री पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने प्रभाचन्द्र का समय ई० सन् १०२० के लगभग माना है। अतः भोज का राज्यकाल ११ वीं शताब्दी है।

आचार्य कवि मानतुंग के भक्तामर स्तोत्र की शैली मयूर और बाण की स्तोत्र-शैली के समान है। अतएव भोज के राज्य में मानतुंग ने अपने स्तोत्र की रचना नहीं की है। अतः भोज के राज्य-काल में बाण और मयूर के साथ मानतुंग का साहचर्य कराना संभव नहीं है।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध इतिहास-विद्वान डॉ० ए० बी० कीथ ने भक्तामर-कथा के संबंध में अनुमान किया है कि कोठरियों के ताले या पाशबद्धता संसारबंधन का रूपक है। उनका कथन है—

"Perhaps the origin of the legend is simply the reference in his poem to the power of the Jine to save those in fetters doubtless metaphorically applied to the bonds holding men to Carnal life" [१]

अर्थात्—सम्भवतः इस कथा का मूल केवल उनकी कविता में पाशों से आबद्धजनों के बचाने के लिए जिनदेव की शक्ति के उल्लेख मे है जो निश्चय ही मनुष्यों को सांसारिक जीवन से बांधने वाले पाशो के लिए रूपक है।

डा० कीथ ने मानतुंग को बाण के समकालीन अनुमान किया है।[२] सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने सिरोही का इतिहास नामक ग्रन्थ मे मानतुग का समय हर्षकालीन माना है। श्रीहर्ष का राज्याभिषेक ई० सन् ६०७ (वि० सं० ६६४) में हुआ।

भक्तामर-स्तोत्र के अन्तरंग परीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र कल्याणमंदिर का पूर्ववर्ती है। कल्याणमन्दिर में कल्पना की ऊँची उडानें हैं वैसी इस स्तोत्र में नहीं हैं। अतः भक्तामर के बाद ही कल्याणमन्दिर की रचना हुई होगी। अतः भक्तामर की कल्पनाओं का पल्लवन एवं उन कल्पनाओ मे कुछ नवीनताओं का समावेश चमत्कारपूर्ण शैली मे पाया जाता है। भक्तामर में कहा है कि सूर्य की बात ही क्या उसकी प्रभा ही तालाबों में कमलो को विकसित कर देती है। उसी प्रकार हे प्रभो! आपका स्तोत्र तो दूर ही रहे पर आपकी नाम-कथा ही समस्त पापों को दूर कर देती है। यथा—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (९)

---

२ प्रमेयकमलमार्तण्ड प्रशस्ति-पद्यांश।

१-२—A history of Sanskrit literature 1941 Page-214-215 (Religious poetry).

कल्याणमन्दिर में उपर्युक्त कल्पना को बीज रूप मे स्वीकार कर बताया गया है कि जब निदाघ में कमल से युक्त तालाब की सरस वायु ही तीव्र आतप से संतप्त पथिकों की गर्मी से रक्षा करती है, तब जलाशय की बात ही क्या ? उसी प्रकार जब आप का नाम ही संसार ताप को दूर कर सकता है तब आपके स्तोत्र के सामार्थ्य का क्या कहना ?

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थ जनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरस सरसोऽनिलोऽपि ॥

—कल्याणमंदिर पद्य (७)

भक्तामर-स्तोत्र की गुणगान महत्त्व-सूचक कल्पना का प्रभाव और विस्तार भी कल्याण मन्दिर में पाया जाता है। भक्तामर-स्तोत्र मे बताया गया है कि प्रभो ! संग्राम मे आप के नाम का स्मरण करने से बलवान राजाओ का भी युद्ध करते हुए घोडो और हाथियो की भयानक गर्जना से युक्त सैन्यदल उसी प्रकार नष्ट भ्रष्ट हो जाता है जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अन्धकार नष्ट हो जाता है। यथा—

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम् ।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥

— भक्तामरस्तोत्र पद्य (४२)

उपर्युक्त कल्पना का रूपान्तर कल्याणमन्दिर के ३२वें पद्य मे उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय मे मेघदूत के पाद सन्निवेश के रहने पर भी कल्पनाओ मे रूपान्तर। यथा—

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम—
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥

—कल्याण मन्दिर स्तोत्र पद्य (३२)

इसी प्रकार भक्तामर स्तोत्र के नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारं (पद्य १८) का कल्याण मन्दिर के नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन (पद्य ३७) पर और त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसम (पद्य २३) का त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्मरूपम (पद्य १४) पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

कोई भी निष्पक्ष समालोचक उपयुक्त विश्लेषण के प्रभाव मे इस स्वीकृति का विरोध नही कर सकता है कि भक्तामर का शब्दों पदो और कल्पनाओ मे पर्याप्त साम्य है तथा भक्तामर की कल्पनाओं और पदावलियों का विस्तार कल्याणमन्दिर में हुआ है।

भक्तामर स्तोत्र के प्रारम्भ करने की शैली पुष्पदन्त के शिवमहिम्न-स्तोत्र से प्राय: मिलती है। प्रातिहार्य एवं वैभव वर्णन में भक्तामर पर पात्रकेसरीस्तोत्र का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। अतएव मानतुंग का समय ७वीं शती है। यह शती मयूर, बाणभट्ट आदि के चमत्कारी स्तोत्रों की रचना के लिए प्रसिद्ध भी है।

भारत का सांस्कृतिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि ई सन् की ५वीं शताब्दी से मन्त्र तन्त्र का प्रचार विशेष रूप से हुआ है। ५वीं शताब्दी में महायान और कापालिकों ने बड़े-बड़े चमत्कार की बातें कहना आरम्भ की। अतएव यह क्लिष्ट कल्पना न होगी कि उस चमत्कार के युग में आचार्य मानतुंग ने भी भक्तामर स्तोत्र की रचना की हो। इस स्तोत्र को उन्होंने दावाग्नि भयंकर सर्प, राज सेनाएँ, भयानक समुद्र आदि के भयों से रक्षा करने वाला कहा है। जलोदर एवं कुष्ट जैसी व्याधियाँ भी इस स्तोत्र के प्रभाव से नष्ट होने की बात कही गयी है। अत स्पष्ट है कि चमत्कार के युग में वीतरागी आदिजिनका महत्त्व और चमत्कार कवि ने युग के प्रभाव से ही दिखलाया है। अतएव मानतुंग का समय ७वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

रचना और काव्य प्रतिभा

मानतुंग ने ४ पद्य प्रमाण भक्तामर-स्तोत्र की रचना की है। यह समस्त स्तोत्र वसन्त तिलका छन्द मे लिखा गया है। इसमे आदितीर्थकर ऋषभनाथ की स्तुति की गई है। पर इस स्तोत्र की यह विशेषता है कि इसे किसी भी तीर्थङ्कर पर घटित किया जा सकता है। प्रत्येक पद्य में उपमा उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार का समावेश किया गया है। इसका भाषासौष्ठव और भावगाम्भीर्य प्रसिद्ध है। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कहता है कि हे प्रभो! अल्पज्ञ और बहुश्रतज्ञ विद्वानों द्वारा हँसी के पात्र होने पर भी तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है। वसन्त मे कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहती प्रत्युत आम्र-मंजरी ही उसे बलात् कूजने का निमन्त्रण देती है। यथा—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरी कुरुते बला'माम।
यत्कोकिल किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारुचूतकलिकानिकरकहेतु ॥

अतिशयोक्ति अलंकार में आराध्य के गुणों का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि हे भगवन्! आप एक अद्भुत जगत प्रकाशी दीपक हैं जिसमे न तेल है न बाती और न धूम। पर्वतों को कम्पित करने वाले वायु के झोंके भी इस दीपक तक पहुंच नहीं सकते हैं। तो भी जगत में प्रकाश फैलता है। यथा—

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूर
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाश ॥

—भक्तामर स्तोत्र पद्य (१६)

इस पद्य में आदिजिन को सर्वोत्कृष्ट विचित्र दीपक कहकर कवि ने अतिशयोक्ति अलंकार का समावेश किया है। अतिशयोक्ति अलंकार के उदाहरण इस स्तोत्र में और भी कई आये हैं। पर १७ वें पद्य की अतिशयोक्ति बहुत ही सुन्दर है। कवि कहता है कि हे भगवन ! आपकी महिमा सूर्य से भी बढ़कर है क्योंकि आप कभी भी अस्त नहीं होते न राहुगम्य हैं न आपका महान प्रभाव मेघों से अवरुद्ध होता है एव आप समस्त लोको के स्वरूप को स्पष्ट रूप से अवगत करते हैं। यथा—

> नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्य
> स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
> नाम्भोधरोदरनिरुद्ध महाप्रभाव
> सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके ।।

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (१७)

यहाँ भगवान को अद्भुत सय के रूप मे वर्णित कर अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखलाया गया है।

कवि आदिजिनको बुद्ध शंकर धाता और पुरुषोत्तम सिद्ध करता हुआ कहता है—

> बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा
> त्व शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्
> धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्
> व्यक्त त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ।।

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (२५)

इस प्रकार मानतुंग में काव्य प्रतिभा और उनके इस स्तोत्र-काव्य मे सभी काव्य-गुण समवेत है।

● ● ●

राजस्थानी जैन सन्तों
की
साहित्य-साधना

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

[जैन सन्त साहित्य-संग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद के चक्कर में नहीं पड़े, किन्तु जहाँ से भी अच्छा एवं कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वहीं से उसका संग्रह करके शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत किया गया। साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रन्थ भण्डार स्थापित किये हैं। राजस्थान इसका ज्वलन्त उदाहरण है।]

भारतीय इतिहास में राजस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक ओर यहाँ की भूमि का प्रत्येक कण वीरता एवं शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के गौरव स्थल भी यहाँ पर्याप्त संख्या में मिलते है। यदि राजस्थान के वीर योद्धाओं ने जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणो को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले आचार्यों सन्तों एवं विद्वानों ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओ एवं कृतियो द्वारा जनता मे देश भक्ति जाग्रति एव नतिकता का प्रचार किया। यहाँ के रणथम्भोर कुम्भलगढ़ चित्तौर भरतपुर मांडोर जसे दुर्ग यदि वीरता देशभक्ति एवं त्याग के प्रतीक है तो जैसलमेर नागौर बीकानेर अजमेर आमेर डूंगरपुर सागवाडा टोडारायसिंह आदि कितने ही ग्राम एवं नगर राजस्थानी ग्रन्थकारो साहित्योपासको एवं सन्तों के पावन स्थान हैं जिन्होंने अनेक सकटो एव झंझावातो के मध्य भी साहित्य की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा। वास्तव में राजस्थान की भूमि पावन एव महान् है तथा यहाँ का प्रत्येक कण वन्दनीय है।

राजस्थान की इस पावन भूमि पर कितने ही सन्त हुये जिन्होंने अपनी कृतियों द्वारा भारतीय साहित्यके भण्डारको इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली नहीं हो सकता। यहाँ सन्तो की परम्परा चलती ही रही और कभी उसमें व्यवधान नहीं आया। सगुण एवं निर्गुण दोनो ही भक्ति की धारा के यहाँ सन्त होते रहे और उन्होंने आध्यात्मिक प्रवचनों गीति-काव्यों एवं मुक्तक-छन्दों द्वारा जन जागरण को जगाये रखा। इस दृष्टि से मीरा दादूदयाल सुन्दरदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इधर जैन सन्तों का भी राजस्थान केन्द्र रहा। इन सन्तों के डूंगरपुर सागवाड़ा नागौर आमेर, अजमेर बीकानेर जैसलमेर चित्तौर आदि मुख्य नगर थे। वहाँ से वे राजस्थान के ही नहीं किन्तु भारत के अन्य प्रदेशों में भी विहार करते और अपनी ज्ञान-साधना एवं आत्म-साधना से जन-साधारण का

जीवन ऊँचे उठाने का प्रयास करते रहते। ये सन्त विविध भाषाओं के ज्ञाता होते थे और भाषा-विशेष से कभी मोह नहीं रखते थे। जिस किसी भाषा की जनता द्वारा कृतियो की माग की जाती उसी भाषा में अपनी लेखनी चलाते तथा उसे अपनी आत्मानुभूति से परिप्लावित कर देते। कभी वे पुराण-ग्रन्थ लिखते तो कभी काव्य ग्रन्थो के लिखने में लेखनी चलाते। ज्योतिष आयुर्वेद गणित रस अलंकार आदि भी उनके विविध विषय थे। वे सैकडों की सख्या मे रास एव कथा-ग्रन्थों की एवं फागु, बेलि शतक एवं बारहखडी के रूप में रचनायें संरचित करके पाठको को अध्यात्म रस का पान कराया करते। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश हिन्दी गुजराती आदि सभी भाषाएँ उनकी अपनी भाषा रही। प्रान्तवाद एव भाषावाद के झगडे मे ये कभी नहीं पडे क्योकि इन सन्तो की साहित्य सर्जना का उद्देश्य तो सदव ही आत्म सन्तोष एवं जन कल्याण का रहा है। लेखक का विश्वास है कि वेद स्मृति उपनिषद पुराण रामायण एव महाभारत काल क ऋषियो एव सन्तो के समान भारतीय साहित्य की जितनी अधिक सेवा एवं सुरक्षा इन जन सन्तो ने की है उतनी अधिक किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के साधुवर्ग द्वारा नही हो सकी है। राजस्थान के इन सन्तो ने स्वय तो विविध भाषाओ मे सैकडा हजारो कृतियो का सृजन किया ही किन्तु अपने पूववर्त्ती आचार्यों साधुओ कवियो एव लेखको की रचनाओ का भो बडे प्रेम श्रद्धा एव उत्साह से सग्रह किया। एक एक ग्रंथ की कितनी ही प्रतियाँ लिखवाकर ग्रन्थ भण्डारो मे विराजमान की और जनता को उन्हे पढने एव स्वाध्याय के लिए प्रोत्साहित किया। राजस्थान क आज सकडा हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डार उनकी साहित्यिक-सेवा के ज्वलत उदाहरण हैं। जन सन्त साहित्य-सग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एव सम्प्रदाय के चक्कर मे नही पडे किन्तु जहाँ से भी श्रेष्ठ एव कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वही से उसका संग्रह करके शास्त्र भण्डारो मे सग्रहीत किया गया। साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रन्थ भंडार स्थापित किये। इन्ही सन्तो की साहित्यिक सेवा के परिणाम स्वरूप राजस्थान के जन ग्रन्थ भंडारो मे १।। २ लाख हस्तलिखित ग्रन्थ अब भी उपलब्ध होते है[1]। ग्रन्थ-सग्रह के अतिरिक्त इन्होने जनेतर विद्वानो द्वारा लिखित काव्यो एव अन्य ग्रन्थो पर टीका लिखकर उनके पठनपाठन मे सहायता पहुचायी। राजस्थान के जैन ग्रन्थ भंडारो मे अकेले जैसलमेर के जैन ग्रंथ-संग्रहालय ही ऐसे ग्रन्थ सग्रहालय है जिनकी तुलना भारत के किसी भी प्राचीन एवं बडे से-बडे ग्रथ-संग्रहालय से की जा सकती हैं। उनमे संग्रहीत अधिकांश ताडपत्र पर लिखी हुई प्रतियां हैं और वे सभी राष्ट्र की अमूल्य सपत्ति हैं। ताडपत्र पर लिखी हुई इतनी पुरानी प्रतियाँ अन्यत्र मिलना सभव नही है। श्री जिनचन्द्रसूरि ने संवत् १४९७ मे वृहत्ज्ञानभण्डार की स्थापना करके साहित्य की सैकडो अमूल्य निधियो को नष्ट होने से बचा लिया। जैसलमेर के इन भंडारो को देखकर कर्नल टाड डा बूलर डा जैकोबी जसे पाश्चात्य विद्वान एवं भाण्डारकर दलाल जैसे भारतीय विद्वान आश्चर्यचकित रह गये और यहाँ के महत्वपूर्ण संग्रह को प्राप्त कर दाँतो तले अंगुली दबायी। द्रोणाचार्य कृत ओघनियुक्ति वृत्ति की इस भंडार मे सबसे प्राचीन प्रति है जिसकी सम्वत १११७ में पाहिल ने प्रतिलिपि की थी। जैनागमो एवं ग्रन्थो की प्रतियों के अतिरिक्त दण्डि कवि के काव्यादर्श (संवत् ११९१) मम्मट के

---

१ ग्रन्थ भंडारो का विस्तृत परिचय के लिए देखिये लेखक द्वारा लिखित Jain Granth Bhandars in Rajasthan

काव्यप्रकाश (संवत् १२१५) रुद्रट कवि के काव्यालंकार पर नमि साधु की टीका (संवत् १२०६) एवं कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित की १४वीं शताब्दी की महत्वपूर्ण प्रतियाँ संग्रहीत की हुई हैं। विमलसूरि कृत प्राकृत के महाकाव्य पउमचरिय की संवत १२०४ की जो प्रति है वह संभवतः अबतक उपलब्ध प्रतियो में प्राचीनतम प्रति है। इसी तरह उद्योतनसूरि कृत कुवलयमाला की प्रति भी अत्यधिक प्राचीन प्रति है जो संवत १२६१ की लिखी हुई है। कालिदास माघ भारवि, हर्ष हलायुध भट्टि आदि महाकवियो द्वारा रचित काव्यों की प्राचीनतम प्रतियाँ एवं उनकी टीकाएँ यहाँ के भडारो के अतिरिक्त आमेर अजमेर नागौर बीकानेर के भंडारों मे संग्रहीत हैं। न्यायशास्त्र के ग्रन्थो में सांख्यतत्वकौमुदी पातंजल योगदर्शन न्यायबिन्दु न्यायकन्दली खंडन खंडखाद्य गौतमीय न्यायसूत्रवृत्ति आदि की कितनी ही प्राचीन एवं सुन्दर प्रतियाँ जैन सन्तो द्वारा लिखी हुइ इन भंडारो मे संग्रहीत हैं। नाटक-साहित्य में मुद्राराक्षस वेणीसंहार, अनर्घराघव एव प्रबोधचन्द्रोदय के नाम उल्लेखनीय है। जैन सन्तो ने केवल संस्कृत एव प्राकृत साहित्य के संग्रह मे ही रुचि नही ली किन्तु हिन्दी एवं राजस्थानी रचनाओं के सग्रह मे भी उतना ही प्रशंसनीय परिश्रम किया। कबीरदास एव उनके पथ के कवियो द्वारा लिखा हुआ अधिकाश साहित्य आमेर शास्त्र भडार जयपुर मे सग्रहीत है। इसी तरह पृथ्वीराजरासो एवं बीसलदेवरासो की महत्वपूर्ण प्रतिया बीकानेर एव कोटा के शास्त्र भण्डारो मे संग्रहीत हैं। कृष्णरुक्मिणीवेलि रसिकप्रिया एवं बिहारीसतसई की तो गद्य-पद्य सहित कितनी ही प्रतिया इन भंडारो मे खोज करने पर प्राप्त हुई है।

राजस्थान के ये जैन सन्त साहित्य के सच्चे साधक थे। आत्मचिंतवन एव आध्यात्मिक चर्चा के अतिरिक्त इन्हे जो भी समय मिलता उसका पूरा सदुपयोग साहित्य रचना में करते। ये स्वय ग्रन्थ लिखते दूसरो से लिखवाते एवं भक्तो को लिखवाने का उपदेश देते। वे ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने में बडा परिश्रम करते। दिन भर कमर झुकाये शुद्ध प्रतलिपि करते एवं सुन्दर तथा सुवाच्य लिखते। इन सन्तो के घोर परिश्रम से आज अकेले राजस्थान मे १।। २ लाख से अधिक हस्तलिखित ग्रन्थो का संग्रह मिलता है। किन्तु अब भी कितने ही ऐसे ग्रन्थ सग्रहालय हैं जिनकी किसी भी विद्वान् द्वारा छानबीन नहीं की जा सकी है। राजस्थान के जैन ग्रन्थ भण्डारो पर शोध निबन्ध लिखने तथा श्रीमहावीर-क्षेत्र के साहित्य शोध-सस्थान द्वारा राजस्थान के शास्त्र भण्डारो की ग्रन्थ-सूची बनाने के सिलसिले में मुझे यहाँ के १ से भी अधिक ग्रन्थ भण्डारो को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है और इसी अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि धर्मान्ध मुसलिम शासकों द्वारा इन शास्त्र भण्डारो का विनाश नही किया जाता तथा हमारी ही लापरवाही से हजारों ग्रन्थ चूहे दीमक एवं सीलन से नष्ट नहीं होते तो पता नही आज कितनी अधिक संख्या में इन भण्डारो में ग्रन्थ उपलब्ध होते।

अब यहाँ राजस्थान के कुछ प्रमुख संतों की भाषानुसार साहित्य-सेवा पर प्रकाश डाला जा रहा है—

जम्बूद्वीपपण्णत्ति के रचयिता आचार्य पद्मनन्दि राजस्थानी सन्त थे। प्रशस्ति का रचना स्थान बारां है जो आजकल राजस्थान का एक उपजिला है। हरिभद्रसूरि राजस्थान के दूसरे सन्त थे जो प्राकृत एवं संस्कृत के जबरदस्त विद्वान् थे। इनका सम्बन्ध चित्तौर से था। आगम-ग्रन्थों के

एवं न्यायशास्त्र के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। इसी तरह महेश्वरसूरि भी प्राकृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे और ये भी राजस्थान के प्रदेश को सुशोभित करनेवाले थे। ज्ञानपञ्चमीकहा एवं संयम-मंजरीकहा इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं। अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि हरिषेण भी चित्तौर के निवासी थे। इन्होंने अपनी कृति धम्मपरिक्खा को अचलपुर मे संवत् १ ४ में समाप्त की थी। धम्मपरिक्खा के अतिरिक्त अपभ्रंश की १ से भी अधिक रचनायें राजस्थान के इन शास्त्र भण्डारो मे संग्रहीत हैं जो इन जैन सन्तों द्वारा लिपिबद्ध की हुई हैं।

राजस्थान के अधिकांश संत संस्कृत के भी विद्वान् थे। सस्कृत से उन्हे विशेष रुचि थी और इसीलिये उन्होंने पुराण काव्य चरित्र कथा स्तोत्र एवं पूजा साहित्य का खूब सर्जन किया। राजस्थान के सिद्धर्षि संभवत प्रथम जन सन्त थे जिन्होंने उपदेशमाला पर संस्कृत टीका लिखी और उपमितिभवप्रपंचकथा को सवत् ९६२ में समाप्त किया। १२ वी शताब्दी मे होने वाले आचार्य हेमचन्द्र से राजस्थानी जनता कम उपकृत नहीं है। इनके द्वारा लिखे हुये साहित्य का इस प्रदेश मे खूब प्रचार रहा जो आज दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो भण्डारो मे काफी अधिक संख्या मे मिलता है।

१३ वी शताब्दी मे होने वाले महापण्डित आशाधर राजस्थानी विद्वान् थे। उनका लालन पालन शिक्षा दीक्षा एवं प्रारंभिक युवावस्था राजस्थान के माण्डलगढ (मेवाड) मे व्यतीत हुआ था। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे और उन्होंने २ से अधिक ग्रंथो की रचना की है तथा टीकाएँ लिखी हैं। १५१८ शताब्दी मे राजस्थान मे भट्टारक सकलकीर्त्ति के उदय से एक नये रूप का अध्याय प्रारम्भ हुआ। उन्होंने साहित्य निर्माण की ओर सन्तो एव जनता दोनो का ध्यान आकृष्ट किया। इनकी परम्परा मे होने वाले अधिकांश भट्टारक सस्कृत के प्रमुख विद्वान् थे जिनमें भट्टारक भुवनकीर्ति ब्रह्म जिनदास भट्टारक ज्ञानभूषण विजयकीर्त्ति शुभचन्द्र सकलभूषण सुमतिकीर्त्ति आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भ सकलकीर्ति के जीवन पर पूरा खोज होना आवश्यक है। उन्होने सस्कृत मे २८ से अधिक रचनायें करके साहित्यिक क्षेत्र मे एक अद्भुत क्रान्ति की। इसी तरह इनके शिष्यो में ब्रह्मजिनदास ने संस्कृत मे १२ से अधिक कृतिया एव शुभचन्द्र ने २४ रचनायें लिखकर संस्कृत भाषा-साहित्य के भण्डार को भर दिया। उक्त विद्वानों के अतिरिक्त राजस्थान मे होने वाले विद्वानो मे आचार्य सोमकीर्त्ति ब्र रायमल ब्र कामराज सोमसेन एव हर्षकीर्त्ति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १५ वी शताब्दी मे श्री जिनभद्रसूरी ने जैसलमेर मे वहद्ज्ञानभण्डार की स्थापना की तथा आमेर अजमेर एव नागौर में बाद मे भट्टारको द्वारा शास्त्र भण्डारों की स्थापना की गयी जिनके कारण साहित्य की प्रमुख रूप से रचना हो सकी।

हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य

राजस्थान में हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में काव्य रचना बहुत पहले से प्रारम्भ हो गयी थी। जन-साधारण की इस भाषा की ओर रुचि देखकर जैन सन्तों ने हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा में काव्य-रचना की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होने पहले छोटी-छोटी रचनायें लिखीं। रास बेलि फागु एवं बारहमासा के रूप में छोटी-छोटी रचनायें लिखकर जन-साधारण का हिन्दी की ओर आकर्षण उत्पन्न किया। उन्होंने साहित्य में धार्मिक पुट देकर उसे लोकप्रिय एवं

सम्मानसीय बनाया । हिन्दी के आदिकाल की रचनाओं में जैन सन्तो द्वारा रचित कृतियों का प्रमुख स्थान है । इन रचनाओं में शालिभद्रसूरि का भरतेश्वरबाहुबलिरास, विजयसेनसूरि का रेवंतगिरिरास सुमतिगणि का नेमिनाथरास विनयमल का गौतमरास आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

१५वीं १६वीं शताब्दी में तो राजस्थानी सन्तों ने हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा मे कितनी ही महत्वपूर्ण कृतियाँ लिखी । भट्टारक सकलकीर्ति ने राजस्थानी भाषा में चार रचनायें लिखीं किन्तु उनके शिष्य ब्रह्मजिनदास ने ३३ रास-ग्रन्थ २ ग्रन्थ पुराण ७ गीत एवं स्तवन ४ व्रत-पूजाएँ एवं ७ छोटी रचनायें लिखकर अपने हिन्दी प्रेम का ज्वलंत उदाहरण उपस्थित किया । हिन्दी के किसी भी सत एव विद्वान् द्वारा सम्भवत इतनी अधिक रचनाय नहीं लिखी गयी होगी । ब्रह्मजिनदास की इन रचनाओं मे रामसीतारास श्रीपालरास यशोधररास भविष्यदत्तरास परमहंसरास हरिवंश पुराण एवं आदिनाथपुराण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । ब्रह्म जिनदास के समकालीन आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य महोपाध्याय जयसागर के भी राजस्थानी भाषा म ३२ से भी अधिक रचनाय लिखीं । १६वी शता दी के विद्वान् मतिसागर के धन्नारास नेमिनाथवसंत मयणरेहारास इलापुत्रचरित्र नेमिनाथगीत के नाम उल्लेखनीय है । १६वी शताब्दी मे ही ब्रह्मबूचराज प्रसिद्ध विद्वान् हुये जि होंने मयणजु भ सन्तोषतिलक जयमाल चेतनपुद्गल ध्यान आदि रूपक काव्य लिखकर इस क्षेत्र मे विशेष काय किया । इसी तरह पार्श्वनाथसूरि भी इसी शताब्दी के प्रभावशाली विद्वान् थे । इन्होंने राजस्थानी भाषा को ५ से भी अधिक रचनाय समर्पित करके साहित्य-सेवा का सु दर उदाहरण उपस्थित किया । ढोला चौपई एवं माधवानलचौपई के रचयिता कुशललाभ गणि भी राजस्थानी सन्त थे ।

१७वी शता दी के आरम्भ मे ब्रह्म रायमल्ल एक अच्छे स त हुए जिनकी हनुमानचौपई सुदर्शनरास भविष्यदत्तरास प्रद्युम्नरास आदि अत्यधिक प्रसिद्ध एव लोकप्रिय रचनायें है । इन्होने राजस्थान के विभिन्न स्थानो मे ग्र थ रचनाय सम्पन्न की जिनमे गढहरसौर गढरणथम्भौर एव सागानेर के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं । समयसुन्दर राजस्थानी भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् थ । आहजारीप्रसादजी द्विवेदी के शब्दों में कवि का ज्ञान परिकर बहुत हो विस्तृत है इसलिये वह किसी भा वर्ण्य विषय का बिना आभास के सहज ही संभाल लेता है । इन्होने सस्कृत में २६ तथा हिन्दी राजस्थानी मे २३ रचनाय लिखकर उसके प्रचार मे विशेष सहायता दी ।

राजस्थान का वागड प्रदेश गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है । इसलिये गुजरात मे होने वाले बहुत से भट्टारक एव स त राजस्थान प्रदेश को भी अपनी चरण धूलि से पवित्र करते । यहाँ वे साहित्य रचना करते एवं उससे अपने भक्तो को रसास्वादन कराते । इन सन्तो मे भ रत्नकीर्ति कुमदचन्द्र अभयचन्द्र शुभचन्द्र ब्रह्म नयसागर मुनि कल्याणकीर्ति चन्द्रकीर्ति श्रीपाल गणेश आदि के नाम उल्लेखनीय है । ये सभी हिन्दी राजस्थानी एवं सस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् थे । और इनकी कितनी ही रचनाय राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारा मे उपलब्ध होती हैं ।

●●●

१

अपभ्रंश में कडवक छंद
का
स्वरूप और विकास

डॉ० राजाराम जैन

[कडवक का विकास लोक गाथा के धरातल पर हुआ है। जब अपभ्रंश में प्रबन्ध पद्धति का आविर्भाव हुआ और दोहा छन्द इसके लिये छोटा पडने लगा तब अपभ्रंश कवियों ने मात्रिक छन्दों की परम्परा पर प्रबन्ध के वहन कर सकने योग्य पद्धडिया छन्द का विकास किया। उसी क्रम में १ ० २४ ८ ३ एवं ४८ अर्धालियों के अनन्तर घत्ता देकर कडवक लिखने की परम्परा आविर्भूत हुई।]

शब्दों का सम्बन्ध किसी व्यक्ति से नहीं बल्कि सामाजिक सम्बन्धों के मूल्य निर्धारण में उपयोगी होने के कारण उनका सम्बन्ध मानवमात्र से है। जिस प्रकार आर्थिक मूल्यों का सचालन सिक्कों द्वारा होता है उसी प्रकार सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह शब्दों द्वारा। शब्द छन्द का रूप धारण कर विषयिगत भावाभिव्यक्ति कर संगीत का कार्य सम्पन्न करते है। यही कारण है कि प्रकृति की पाठशाला में बैठकर मनुष्य ने जब से गुनगुनाने का कार्य आरम्भ किया तभी से छन्द की उत्पत्ति हुई।

छन्द शब्द की व्युत्पत्ति छन्द धातु से मानी गई है जिसका अर्थ आवृत्त करने या रक्षित करने के साथ प्रसन्न करना भी होता है। निघण्टु मे प्रसन्न करने के अर्थ मे एक छन्द धातु भी उपलब्ध होती है। कुछ विद्वानों का मत है कि छन्द की उत्पत्ति भी छन्द धातु से हुई है। भारतीय वाङ्मय मे छन्द को वेदाङ्ग माना गया है और उसे वेदों का चरण कहा है। महर्षि पाणिनि ने ईस्वी सन् से लगभग ५ वर्ष पूर्व ही छन्द पादौ तु वेदस्य की घोषणा की था। बृहद्देवता मे कहा गया है कि जो व्यक्ति छन्द के उतार चढाव को बिना जाने वेदों का अध्ययन करता रहता है वह पापी है। यथा—

> अविदित्वा ऋषिच्छन्दो दैवत योगमेव च।
> योऽध्यापयेज्जपेत् वापि पापीयान् जायते तु स ॥

पर छन्द शास्त्र की व्यवस्थित परम्परा आचार्य पिंगल के छन्दसूत्र से प्राप्त होती है। अनादि काल से ही मानव छन्द का आश्रय लेकर अपने ज्ञान को स्थायी और अन्य-ग्राह्य बनाने का प्रयत्न करता आ रहा है। छन्द ताल तुक और स्वर समस्त मानव समाज को स्पन्दनशील बनाते है।

संवेदनशीलता उत्पन्न करने में छन्द से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। इसी साधन के बल से मनुष्य ने अपनी आशा-आकांक्षा एवं अनुराग विराग को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक और एक युग से दूसरे युग तक प्रषित किया है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त गायत्री अनुष्टप बृहती पंक्ति त्रिष्टप और जगती छन्द प्रमुख हैं। लौकिक संस्कृत में तो वर्ण और मात्रिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का विविधरूप मे प्रयोग हुआ है। इस छन्द-वैविध्य के बीच भी संस्कृत में अनुष्टप छन्द इतना प्रसिद्ध रहा है कि जिससे वह पद्य का पर्यायवाची ही बन गया। संस्कृतभाषा की प्रकृति के अनुसार अनुष्टप वह छन्द है जो प्रत्येक प्रकार के भाव को व्यक्त करने में सक्षम है। यही कारण है कि करुण और शृङ्गार विलास वभव अनुराग विराग प्रभृति विभिन्न प्रकार की भावावली का अभिव्यञ्जना इस छोटे से छन्द मे पाई जाती है।

ईसापूर्व ६ ७ वी सदी से ही लोक भाषाओं ने जब काव्य का आसन ग्रहण किया तब भावलय के साधन छन्द मे भी परिवर्तन हुआ। यों तो वैदिक काल मे ही गाथा छन्द का अस्तित्व था। ऋग्वेद मे गाथा श छन्द और आख्यान इन दोनो ही अर्थों मे प्रयुक्त है। पर यह गाथा छन्द प्राकृत का वह निजी छन्द बना जो अनुराग विराग एवं हर्ष विषाद आदि सभी प्रकार के भावो का अभिव्यंजना के लिये पूर्ण सशक्त है। यही कारण है कि प्रवरसेन द्वितीय वाक्पतिराज और कुतूहल जसे कवियो ने प्रेम शृगार युद्ध एव जन्मोत्सव आदि का वर्णन इसी छन्द मे किया है। वाक्पतिराज ने अपने गउडवहो नामक काव्य मे आद्यन्त गाथा छन्द का ही प्रयोग किया है। अतएव स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राकृत के कवियो की दृष्टि में सभी प्रकार की भावनाओं की अभिव्यञ्जना इस एक छ मे भी सम्भव है।

प्राकृत के पश्चात् ई सन् की छठवी सदी से ही जब अपभ्रंश ने काव्य भाषा का आसन ग्रहण किया तो दोहा-छन्द अनुष्टप के तृतीय संस्करण और गाथा के द्वितीयसस्करण के रूप मे उपस्थित हुआ। यह दोहा छन्द मात्रिक छन्द है और मात्रिक-छन्दो का सर्वप्रथम प्रयोग प्राकृत मे प्रारम्भ हुआ। इसका प्रधान कारण यह है कि मात्रिक छन्दों के बीज लोक गीतों में पाये जाते हैं। सगीत को रागिनी देने के लिये मात्रिक छन्द ही उपयुक्त होते हैं। तुक का मिलना ही संगीत में लय उत्पन्न करता है। यही कारण है कि सम और विषम चरणो मे तुक मिलाने की पद्धति संगीत के लिये विशेष प्रिय हुई है।

दोहा-छन्द जिसमे कि दूसरे और चौथे चरण मे तुक मिलती है अपभ्रंश के लिये अत्यधिक प्रिय रहा है। जितना भी प्राचीन अपभ्रंश साहित्य है वह सब दोहो मे लिखा हुआ ही मिलता है। **कडवक-पद्धति** का आविर्भाव कब और कसे हुआ इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। महाकवि स्वयम्भू ने अपने रिट्ठणेमिचरिउ की उत्थानिका मे पूर्ववर्ती शास्त्रकारों और कवियो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा है —

छड्डणिय दुवइ धुवएहिं जडिय चउमुहेण समप्पिय पद्धडिया।—रिट्ठ १।२।११

अर्थात् कवि चउमुह ने दुवई और ध्रुवकों से जड़ा हुआ पद्धडिया छन्द समर्पित किया। इस उद्धरण से इतना स्पष्ट है कि चउमुह कवि ने ध्रुवक और दुवई के मेल से पद्धडिया छन्द का प्रयोग किया है। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्य में व्यवहृत कडवक इसी पद्धडिया-छन्द का विकसित रूप है।

अलकारशास्त्रियो ने सग कडवकाभिध (साहित्यदपण ६।३२७) कहकर कडवकों को सर्गों का सूचक माना है। सस्कृत का मग श प्राकृत मे आश्वास बना और यही अपभ्रंश में आकर कडवक बन गया। परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि कतिपय अपभ्र श-ग्रन्थो में सर्ग के स्थान पर सन्धि या परिच्छेद शब्द का व्यवहार हुआ है अत कडवका को सर्ग मानना उचित नही है। महाकाव्य मे सग का ठीक वही महत्त्व है जो नाटक मे अक का। नाटक का अक कथा के किसी निश्चित बिन्दु पर समाप्त होता है। व० एक अवान्तर कार्य की परिसमाप्ति की सूचना भी देता है। ठीक यही काम सर्ग भी करता है पर क वक इतने छोटे होते हैं कि वे इस सर्ग की उक्त शर्त्त को पूर्ण नही कर पाते। अतएव सन्धि को तो सग अवश्य कहा जा सकता है पर कडवको को नही। हमारा अपना अनुमान है कि कडवक का विकास लोकगीतो के धरातल पर हुआ है। जब अपभ्र श मे प्रब ध-पद्धति का आविर्भाव हुआ और दोहा छन्द इसके लिये छोटा पडने लगा तब अपभ्रंश कवियो ने मात्रिक छन्दो की परम्परा पर प्रब ध के वहन कर सकने योग्य पद्धडिया-छन्द का विकास किया। १६ २ २४ २ ३२ व ४८ अर्धालियो के अन तर घत्ता छन्द देकर कडवक लिखने की परम्परा आविभू त हुइ।

लोक गीतो के विकास से अवगत होता है कि वीरपुरुषो के आख्यान गेय रूप मे प्रस्तुत किये जाते थे। ये गीत किसी-न किसी आख्यान को लकर चलते थे। गेयता रहने के कारण आख्यान रोचक हो जाते थ। प्राकृत काल में भी प्रब ध लोकगीत अवश्य रहे होगे और इन गीतो का रूप गठन बहुत कुछ पद्धडिया छन्द स मिलता जुलता रहा होगा। यदि यो कहा जाय कि प्रब ध लोक गीतों में व्यवहृत तुकवाला छन्द जिसका कि मूल उद्देश्य द्वितीय और चतुर्थ चरण की तुक मिलाकर आन दानुभूति उत्पन्न करना था पद्धडिया का पूवज है तो कोई अत्युक्ति न होगी। अत चउमु कवि के जिस पद्धडिया-छन्द का उल्लेख स्वयम्भू कवि न किया है वह निश्चयत प्रब ध लोकगीत से विकसित हुआ ही होगा। हम अपने कथन की पुष्टि मे क सबल प्रमाण यह उपस्थित कर सकते हैं कि कडवक ठीक लोक प्रब धगीत का व रूप है जिसमे लोकगीत गायक चारुता और सुविधा के आधार पर अपन प्रब ध को कई एक गीतो मे विभक्त कर विरामस्थल उत्पन्न करता है। ठीक यही परम्परा कडवक की है। इसम भी एक सन्दर्भो को कुछ अर्धालियो में निबद्ध कर घत्ता के द्वारा विरामस्थल उत्पन्न कर कडवक का सृजन किया जाता है। अत कडवक का विकास प्रबन्ध लोकगीतो की पर परा से मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कडवक की परिभाषा पर सवप्रथम विचार आचाय हेमच द्र ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने छन्दोऽनुशासन मे (६।१) मे लिखा है —

सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुव स्यादिति ध्रुवा ध्रुवक घत्ता वा।

अपनी संस्कृत वृत्ति मे स्पष्ट करते हुए उन्होने बताया है कि—

चतुर्भि पद्धटिकाद्यैश्छन्दोभि कडवकम। तस्या ते ध्रुव निश्चित स्यादिति ध्रुवा ध्रुवक घत्ता चेति संज्ञान्तरम्। अर्थात् चार पद्धडिया छन्दो का कडवक होता है। कडवक के अन्त में ध्रुवा या घत्ता का रहना आवश्यक है।

भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे ध्रुवाभिधाने चैवास्य (१५।१५) कहकर छन्द के अन्त मे ध्रुवा का प्रयोग बताया है। आचाय हेम ने ध्रुवा की परिभाषा षटपदी चतुष्पदी एव द्विपदा के रूप मे प्रस्तुत की है। यथा—

सा श्रेधा षट्पदी चतुष्पदी द्विपदी च । ६।२

प्रयोगात्मक विधि से कडवक की परिभाषा का विश्लेषण करने पर उसके अनेक रूप हमें उपलब्ध होते है । जम्मेटिया जिसके कि प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ, रचिता जिसके कि पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में २८ मात्राएँ मलयविलयसिया जिसके प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ संख्य २३ मात्राओं वाला छन्द आवला २ मात्रावाला छन्द हेला २२ मात्रावाला छन्द दुवई, प्रत्येक अर्धाली मे २८ मात्रावाला छन्द घत्ता के पूव पाया जाता है और चरणो की संख्या १४ से लेकर ३ तक पाई जाती है । कडवक के लिये अनिवाय नियम घत्ता का पाया जाना है । कडवक में छन्द के पदो की कोई निश्चित संख्या नही पायी जाती । पुष्पदन्त ने ९ अर्धालियों से लेकर १३ अर्धालियों तक का प्रयोग कडवक मे किया है । इनके हरिवश में ८३वीं सन्धि के १५वें कडवक में १ अर्धालियों के पश्चात घत्ता का प्रयोग आया है और इसी सन्धि के १६वें कडवक मे १२ अर्धालियों के पश्चात् घत्ता आया है । स्वयम्भू ने अर्धालियो के अनन्तर घत्ता छन्द का व्यवहार किया है । यही शैली रामचरितमानस मे भी पाई जाती है । महाकवि तुलसीदास ने ८ अर्धालियो अर्थात् चौपाई के बाद दोहे का प्रयोग किया है ।

महाकवि जायसी ने अपने पद्मावत मे ७ अर्धालियो के पश्चात् दोहा छन्द रखा है । यह छन्द शैली पुष्पदन्त की कडवक शैली से प्रभावित है । पुष्पदन्त ने ७ अर्धालियो से लेकर १२ अर्धालियो तक का घत्ता के पूर्व नियोजन किया है ।

नर मुहम्मद की अनुराग बासुरा मे दोहा के स्थान पर बरब छन्द का प्रयोग पाया जाता है । अर्धालियो की सख्या अपभ्रश के महाकवि स्वयम्भू और उनके पुत्र त्रिभुवन के समान ही है । अपभ्रश का य मे घत्ता की मात्राए समान नही हैं अत हिन्दी का बरब भी घत्ते का ही रूपान्तर है । सोरठा बरब कुण्डलिया का पूर्वार्ध एव रोला का विकास भी घत्ता से ही हुआ है । यो तो रोला का प्रयोग अपभ्रंश मे पाया जाता है पर छन्द के विकास क्रम पर ध्यान देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि घत्ता ने अनेक रूप धारण किये है और रोला भी उन्ही अनेक रूपो मे से एक है । यही कारण है कि स्वयम्भू और प्राकृत-पगलम इन दोनो के द्वारा प्रतिपादित घत्ता की मात्राओं मे भी अन्तर पाया जाता है । अतएव यह निष्कर्ष निकालना सहज ही सम्भव है कि कडवक वह छन्द है जिसमे ७ से लेकर १६ या १ तक अर्धालियाँ हो और अन्त मे एक ध्रुवक या घत्ता का व्यवहार किया गया हो ।

● ● ●

अपभ्रंश-साहित्य

और

साहित्यकार

श्री प्रेमसुमन जैन

स्नातक—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

[अपभ्रंश साहित्य मे उन सभी साहित्यिक विधाओ का समावेश है जिनमें आज का साहित्य रचा जा रहा है। तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से देखें तो पुराणग्रन्थो को महाकाव्य चरितग्रन्थों को प्रबन्धकाव्य कथाग्रन्थो को खण्डकाव्य तथा फुटकर साहित्य को मुक्तककाव्य की कोटि मे सहज ही रखा जा सकता है। अत इसमें दो मत नहीं हो सकते कि अपभ्रंश साहित्य ही आज के साहित्य का जन्मदाता है।]

भारतीय वाङमय का मध्ययुग अपभ्रंश साहित्य का युग है। अन्य भारतीय भाषाओ की तरह अपभ्रंश भाषा भी अपने समय मे काफी समृद्ध एव लोकप्रिय थी। अपभ्रंश साहित्य की प्रचुरता एव समृद्धि इस बात की साक्षी है। हर भाषा सर्वसाधारण मे प्रिय एव प्रसारित हो जाने पर साहित्यिक बाना धारण करता है। तभी वह समृद्ध भाषाओ की कोटि मे गिनी जाती है। अपभ्रंश भाषा भी इसी क्रम से पल्लवित हुई। प्राय जैन विद्वानो की अमर कृतियाँ ही अपभ्रंश साहित्य की अनुपम उपलब्धि हैं। जैनेतर विद्वानो ने जो कुछ भी इसमे लिखा वह साहित्य अपभ्रंश साहित्य का कलेवर तो बढाता है किन्तु किसी नवीन विधा की सृष्टि नही करता। प्रस्तुत निबन्ध अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति विकास एव साहित्यिक विधाओ के समुचित विवेचन द्वारा यह तथ्य प्रकाश मे लाने की दिशा मे है कि वर्तमान भारतीय वाङमय को समृद्ध बनाने मे अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश मे लाने की कितनी महती आवश्यकता है।

उत्पत्ति

प्रारम्भ मे अपभ्रंश शब्द का अर्थ था शिष्टतर या शब्द का बिगडा हुआ रूप। पातंजलि और उनके पूर्व के आचार्य उन शब्दों को अपभ्रंश समझते थे जो सस्कृत भाषा से विकृत या भ्रष्ट होते थे। भरत मुनि अपभ्रंश को विभ्रष्ट नाम से पुकारते हैं। इस समय तक अपभ्रंश हिमप्रदेश सिन्धु और सौवीर मे वर्तमान थी। ६ वी सदी के भामह अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप मानने लगे थे। यद्यपि उस समय की अभी तक कोई रचना प्राप्त नही हुई है।

---

१ शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवाशिनम ॥ —वाक्यपदीयम प्रथम काण्ड १४८

२ नाट्य १७ ६२। ३—काव्यालंकार १ १६ २८।

सातवीं सदी के दण्डी ने अपभ्रंश को वाङमय के एक भेद के रूप में निर्देश किया है।[१] आठवीं सदी के विद्वान-लखक उद्योतनसूरि अपभ्रंश को आदरकी दृष्टि से तो देखते ही थे, उसके साहित्य की प्रशसा भी करते थे। नवी शताब्दी में काव्यालकार के रचयिता कवि रुद्रट ने अपभ्र श के आधार पर काव्य के भेद किये हैं।[२] दसवीं सदी के पुष्पदन्त के महापुराण में संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ राजकुमारियों को अपभ्र श का भी ज्ञान कराया जाता था ऐसा उल्लेख है।[४] इसी समय के राजशेखर ने काव्यपुरुष के जघन के रूप में अपभ्र श को स्वीकार किया है।[५]

इसके अनन्तर मम्मट ११ वी वाग्भट गुणचन्द्र एव अमरचन्द १२ वीं सदी के ये सब विद्वान अपभ्र श को संस्कृत और प्राकृत की कोटि की साहित्यिक भाषा स्वीकार करते हैं। इस तरह अपभ्र श भाषा का नाम लगभग प्रथम शता० ई के करीब लिया जाने लगा था। छठवीं सदी से वह साहित्यिक भाषा की सूचक हो गयी था और ११ वी सदी तक आते आते अपभ्रश भाषा व्याकरण और साहित्य मे व्यापक रूप मे प्रयुक्त होने लगी थी।[६]

विकास

विकास की दृष्टि से सोचे तो हमें देखना होगा कि अपभ्रश भाषा किस तरह साहित्यारूढ़ हुई है क्योंकि भाषा का विकास उसमें होने वाले साहित्य निर्माण के द्वारा होता है। अपभ्रंश के पूर्व प्राकृत में ग्रन्थ रचे जाते थे। ५ वी सदी के लगभग प्राकृतो के व्याकरण बने। इससे प्राकृतो मे होने वाला साहित्य-सृजन रुक गया। क्योंकि व्याकरण में बध जाने के कारण किसी भी भाषा मे अधिक साहित्य सृजन नही हो पाता। साहित्यिक प्राकृतों के विकास के रुक जाने से उस समय मे प्रचलित बोलचाल की देशी भाषाएँ तीव्र गति से आगे बढी। इसके पूर्व भी उनका प्रसार हो रहा था। इधर वे अपभ्रश के नाम से विख्यात हो गयी। धीरे धीरे उसमे साहित्य भी रचा जाने लगा। १३ वी सदी मे अपभ्र श भाषा अपने पूर्ण विकास पर थी। तभी महाकवि विद्यापति को कहना पडा है कि—संस्कृत बहुतो को अच्छी नही लगती और प्राकृत रसके मर्म से अपरिचित है। देशी भाषा सबको मीठी लगती है इसलिए मैं उसी मे रचना करता हूँ। इसके बाद जन-साधारण की भाषा का रूप जरूर बदला किन्तु अपभ्रश मे १७ वी सदी तक साहित्य रचना बराबर होती रही।

अन्य भाषाओं पर प्रभाव

अपभ्रंश भाषा का महत्व इससे और बढ़ जाता है कि उसे जैन विद्वानों के अथक परिश्रम के कारण भारतीय भाषाओ की जननी होने का सौभाग्य प्राप्त है। बंगाली गुजराती राजस्थानी

---

१ काव्यादर्श १ ३२। २ अपभ्रंश-काव्यत्रयी भू ९७ ९८। ३ काव्या २ ११। ४ महापुराण ५ १ ६। ५–काव्या ३ पृ ६। ६ अपभ्रंश साहित्य हरिवंश कोछड़।

७ सक्कइ वाणी बहु न भावइ
पाउअ रस को मम्म न जानइ।
देसिल बअना सब जन मिट्ठा
ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥

पंजाबी एवं हिन्दी आदि प्रान्तीय आर्य भाषाएँ अपभ्रंश से ही प्रसूत मानी जाती हैं। इन भाषाओं का विकास तत्कालीन प्रचलित सर्व-साधारण की बोलियो से हुआ है। उस समय लगभग १३वीं सदी से १५वीं सदी तक प्रान्तीय शब्दो और रूपो के मेल से एक भाषा विकसित हुई थी जिसे अवहट्ठ कहा गया है। वस्तुतः यह अवहट्ठ भाषा ही आधुनिक भारतीय भाषाओं और अपभ्रंश के बीच की कड़ी है।[1]

अपभ्रंश भाषा के अनेक भेदों से अलग अलग प्रान्तीय भाषाएँ प्रसूत हुई हैं। शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा खड़ीबोली राजस्थानी पंजाबी गुजराती एवं पहाड़ी भाषाओं का सम्बन्ध है। मागधी अपभ्रंश से भोजपुरी उड़िया बगाली आसामी मथिला एवं मगही का विकास हुआ और अर्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी एवं अवधी का। ये प्रान्तीय भाषाएँ १ वी सदी से अपभ्रंश के साथ चलने लगी थी। १३ १४ वीं सदी तक ये भाषाएँ अपभ्रंश साहित्य से प्रभावित दिखायी देती हैं किन्तु उसके बाद अपभ्रंश साहित्य भी इन प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित होता रहा है। विषय विस्तार के भय से यहाँ उद्धरण उपस्थित नहीं किये जा सकते।

प्राय विद्वान् अधिकतर जैन अपभ्रंश साहित्य मे जैन विद्वानो के योगदान की चर्चा करते अधिक नजर आते हैं। किन्तु मेरे विचार से तो इस ढंग से सोचना भी अपभ्रंश साहित्य के प्रति ईमानदारी नही है। योगदान तो वहाँ होता है जहाँ कोई व्यक्ति किसी सम्पूर्ण कार्य मे कोई एक अंश की पूर्ति करे। यहाँ तो प्राय सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य जैन विद्वानों की लेखनी द्वारा प्रसूत हुआ है। जैनेतर कवियो ने तो उसके लालन पालन मे थोड़ा ही सहयोग प्रदान किया है। अब देखना हमे यह है कि अपभ्रंश साहित्य के इन मनीषियो ने अपनी अमर कृतियो द्वारा उन किन किन साहित्यिक विधाओं का श्रीगणेश किया है जिनसे आज हिन्दी साहित्य दिनोदिन समृद्ध होता चला जा रहा है।

अन्य भाषाओं की तरह अपभ्रंश मे भी जैन विद्वानो द्वारा पुराण चरित तथा कथा ग्रन्थो का निर्माण हुआ है। वैसे अधिकतर यही विधाएँ अपभ्रंश साहित्य मे अधिक पायी जाती हैं किन्तु रासा स्तुतिपूजा विषयक साहित्य तथा आध्यात्मिक सैद्धांतिक और औपदेशिक साहित्य की भी कमी नही है। साहित्य के इन रूपो के अन्तर्गत हमे महाकाव्य खण्डकाव्य मुक्तककाव्य रूपक काव्य आदि सभी आधुनिक विधाओं का दिग्दर्शन मिल जाता है।

अपभ्रंश साहित्य मे पुराण चरित एवं कथा साहित्य ही क्यों अधिक पाया जाता है इसके भी कारण है। अपभ्रंश साहित्य के अधिकांश ग्रन्थ जैनाचार्यों ने श्रावको के अनुरोध से लिखे हैं। उस समय इन विद्वानो का प्रमुख उद्देश्य अपनी रचनाओं द्वारा जन साधारण तक नैतिक भावना को पहुँचाना था आध्यात्मिक एवं नैतिकता का वातावरण समाज मे उत्पन्न करना था। अतः महापुरुषो की जीवनियो एवं उनके अलौकिक रूप से परिचित कराने की दशा मे पुराणो का

---

१ अपभ्रंश प्रकाश पृ २१ २२।

२ अपभ्रंश साहित्य कोछड़।

३ अनेकान्त फाइल वर्ष ११ किरण ७।

प्रणयन हुआ। चरित-ग्रन्थ विशेष-पुरुषों के आचरणों से शिक्षा ग्रहण करने-कराने के उद्देश्य से निर्मित हुए एवं कथा-साहित्य वर्तमान जीवन में आनन्द एवं मनोरंजन की व्यापकता लाने के अर्थ सृजित हुआ जिससे सहज ही में जन साधारण अनेक शिक्षाएँ भी ग्रहण करता रहा। कथा के माध्यम को अपनाने में जैनाचार्यों की मनोवैज्ञानिकता तो प्रगट होती ही है साथ ही वे कुशल उपदेशक भी कम सिद्ध नहीं होते। इस तरह अपभ्रंश-साहित्य में पुराण चरित एवं कथा-साहित्य की बहुलता स्वाभाविक है।

पुराणग्रन्थ

अपभ्रंश-साहित्य मे पुराण-ग्रन्थो का अन्य साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्व है। प्राय पुराण ग्रन्थो मे जन कवियो ने त्रसठ शलाका पुरुषो के चरित वर्णित किये हैं। कहीं कहीं पुराण ग्रन्थो की कथावस्तु मे कुछ परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है। अपभ्रंश-पुराणग्रन्थो मे २४ तीर्थकरो के चरितो की अधिकता दिखायी देती है। तीर्थकरो के सम्पूर्ण जीवन को झाकी इन पुराणो मे मिलती है किन्तु कही कही किसी एक पक्ष का उद्घाटनमात्र भी प्राप्त होता है।

अपभ्रंश-साहित्य के पुराण ग्रन्थो का वर्गीकरण दो तरह से किया जा सकता है। प्रथम वे पुराण-ग्रन्थ हैं जिनमे २४ तीर्थकरो का वर्णन है। द्वितीय वे कृतियाँ हैं जिनमे तीर्थंकरो के अतिरिक्त अन्य महापुरुषो की जीवनियो का उल्लेख है। इस कोटि में महाकविधवलकृत हरिवंशपुराण पुष्पदन्तकृत महापुराण श्रुतकीर्त्तिकृत हरिवंशपुराण रइधूकृत पदमपुराण यश कीर्त्तिकृत पाण्डव पुराण एवं हरिवंशपुराण तथा पद्मकीर्त्तिकृत पार्श्वपुराण ये अमर कृतियाँ आती हैं। प्रथम कोटि के पुराण साहित्य मे अभी तक निम्न तीर्थकर-चरितो का उल्लेख मिलता है।

(१) पासणाहचरिउ (पद्मकीर्त्ति) (२) पासणाहचरिउ (श्रीधर) (३) णेमिणाहचरिउ (हरिभद्र) (४) पउमचरिउ (स्वयम्भू) (५) पासणाहचरिउ (असवाल) (६) वड्ढमाणकव्वु (जयमित्रह ल) (७) सम्मइणाहचरिउ (रइधू) (८) वड्ढमाणकहा (नरसेन) (९) णेमिणाह चरिउ (लक्ष्मण) (१) चंदप्पहचरिउ (यश कीर्ति) तथा (११) सांतिनाहचरिउ (महीचन्द्र)।

इस तरह कुल मिलाकर करीब १८२ ग्रन्थ पुराण साहित्य की निधि कहे जा सकते हैं। हो सकता है यह संख्या तब और वृद्धि को प्राप्त हो जब किसी परिश्रमी एव विद्वान व्यक्ति का सर्वस्व जन ग्रन्थभण्डारो के अन्वेषण मे अर्पित हो।

चरित ग्रन्थ

अपभ्रंश चरित ग्रन्थो में अधिकतर तत्कालीन प्रसिद्ध महापुरुषो का चरित्र-वर्णन मिलता है। प्राय ये ग्रन्थ धर्म के आवरण से आवृत हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि जैन कवि लेखक के साथ-साथ उपदेशक अधिक थे। अत उन्होंने अपनी कृतियो द्वारा ही धार्मिक एवं नैतिक भावना को जन-साधारण तक अधिक पहुँचाया है। अनेक चरित ग्रन्थों में आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। लगता है जैन कवि उपकार को भूलने वाले नहीं थे। प्राय सभी चरित-काव्यो मे आश्चर्यत्व एवं चमत्कार बहुलता से दिखायी देता है। वर्णन तो इतना रोचक है कि यदि इन चरितकाव्यों को पद्यबद्ध उपन्यास कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। यदि अपभ्रंश साहित्य-सृजन के समय गद्य का प्रचार होता तो इसमें कोई शक नहीं उपन्यास-साहित्य भी अपभ्रंश साहित्य की अपनी निधि होता।

अभी तक निम्न चरित ग्रन्थो का उल्लेख अपभ्रंश-साहित्य मे मिला है। इनमे से कुछ ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं शेष प्रकाशन की बाट जोह रहे हैं।

(१) जसहरचरिउ (२) णायकुमारचरिउ (पुष्पदन्त) (३) जम्बूस्वामिचरिउ (वीर) (४) सुदंसणचरिउ (नयनदि) (५) पउमसिरिचरिउ (धाहिल) (६) करकंडचरिउ (मुनिकन कामर) (७) सुकमालचरिउ (श्रीधर) (८) सुलोचनाचरित (देवसेन) (९) श्रणिकचरित्र (जयमित्रहल) (१ श्रीपालचरित्र (११) णेमिणाहचरिउ (दामोदर) (१२) सणकुमार चरिउ (हरिभद्र) (१३) पज्जुण्णचरिउ (सिह) (१४) जिनदत्तचरिउ (लक्ष्मण) (१५) बाहुबलि चरिउ (धनपाल) (१६) सुकोसलचरिउ (१७) धन्नकुमारचरिउ (१८) श्रीपाल चरिउ (रइधू) (१९) सिरिपालचरिउ (२) णयकुमारचरिउ (नरसन) (२१) नागकुमारचरिउ (२२) अमरसेन चरित (माणिक्कराज) (२३) समिलेहाचरिउ (२४) मृगाकलखाचरिउ (भगवतीदास) (२५) मयणपराजय (हरिदेव) (२६) मोहराजविजय आदि।

कथा-ग्रन्थ

कथा साहित्य जैन साहित्य का विशेष अग रहा है। यह परम्परा अपभ्रश मे भी पूर्ण रूप से निबाही गयी है। जन कथाकारो का उद्देश्य अपने धम के मूलभूत सिद्धान्तो का प्रचार करना था। इसके लिए उन्होने कथा के माध्यम को ही अपनाया। क्योकि जन साधारण तक अपनी बात पहुचाने का सबसे सुगम और सहज माध्यम कथा और कहानी ही है। कथा सग्रन्थ के अवलोकन एव मनन से प्रतीत होता है वस्तुत इन कथाकारो ने जन साधारण के नतिक एव सदाचारमय जावन के स्तर को ऊँचा उठाने मे कोई कसर नही रखी। अपभ्रंश के सभी कथा ग्रन्थो मे प्राय हम व्रता का अनुष्ठान आचरण करने वाले श्रावको का जीवन परिचय व्रतो का स्वरूप विधान और फल प्राप्ति के रोचक वर्णन मिलते हैं।

अपभ्रंश-साहित्य मे जैन कवियो द्वारा रचित निम्न कथा सग्रहो का उल्लेख मिलता है जिनमे से कुछ ही अनुपलब्ध है। इन कथा सग्रहो मे ५ से लेकर २ एवं ३६ कथाओ तक का सग्रह एक एक कथा ग्रन्थ मे मिलता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि कम से कम इन कथाकारो की लेखनी से हजार-दोहजार कथाएँ प्रसूत हुई हैं।

(१) कथाकोश (मुनिश्रीचन्द) (२) भविसयत्तकहा (धनपाल) (३) पुरन्दरविहाणकहा (अमरकीर्ति) (४) चन्दणछट्ठीकहा (कवि लक्ष्मण) (५) णिज्झरपंचमाविहाणक हाणक (भट्टारक विनयचन्द्र) (६) जिनरत्ति कहा (७) रविवउकहा (यश कीर्ति) ( ) अणथमीकहा (९) पुण्णस्सव कहा (रइधू) (१) अणथमीकहा (हरिचन्द) (११) सिद्धचक्रकथा (नरसेनदेव) (१२ २६) भट्टारक गुणभद्रकृत अणंतवयकहा आदि १५ कथाएँ (७) सोखवईविहाणकहा (विमलकीर्ति) (२८) सुयंधदसमीकहा (देवदत्त) (२९) रविवउकहा (३) अणंतवयकहा (मुनि नमिचन्द्र) एवं (३१) तिवुइ सत्तमीकहा (मुनि बालचन्द) आदि।

फुटकर साहित्य

पुराण चरित एव कथा-ग्रन्थो के अतिरिक्त अपभ्रश-साहित्य मे जैन विद्वानो द्वारा रचित अनेक फुटकर ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। इनकी अपनी महत्ता भी कम नहीं है। इन ग्रन्थो मे किसी

एक पक्ष को लेकर धार्मिक एवं नैतिक भावनाओं का चित्रण किया गया है। अनेक ग्रन्थ नीति शास्त्र भी कहे जा सकते हैं। ये सब स्वतन्त्र रचनाएँ हैं जिनमे अधिकतर संसार की अनित्यता को लेकर उपदेश दिये गये हैं। फुटकर साहित्य के कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं —

(१) परमात्मप्रकाश (२) योगसार (योगीन्दु) (३) पाहुडदोहा (मुनि रामसिंह) (४) वैराग्यसार (सुप्रभाचार्य) (५) दोहापाहुड (मुनि महचन्द्र) (६) आनन्दानन्दस्तोत्र (आनन्द) (७) सावयधम्मदोहा (देवसेन) (८) कल्याणकवर्णन (मनसुख) (९) कालस्वरूपकुलक (जिनदत्तसूरि) (१) भावनासन्धिप्रकरण (जयदेवमुनि) (११) रोषवर्णन (गोयम) (१२) संयममंजरी (महेश्वरसूरि) (१३) सुभाषितरत्नसार (१४) षटकर्मोपदेश (अमरकीर्त्ति), (१५) चूनड़ी (विनयचन्द्रमुनि) आदि।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य मे हमें एक प्रकार के और कुछ ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं जिनकी विधा अपभ्रंश साहित्य से ही प्रसूत हुई है। वे हैं—रासाग्रन्थ। (१) उपदेशरसायनरास (२) नेमिरास (३) अन्तरगरास (४) जम्बूस्वामीरास (५) समरास तथा (६) रेवतगिरिरास जैन कवियो द्वारा प्रणीत रासासाहित्य की प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस तरह हम पाते है कि अपभ्रंश-साहित्य मे उन सभी साहित्यिक विधाओ का समावेश है, जिनमे आज का साहित्य रचा जा रहा है। तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से देखें तो पुराण ग्रन्थों को महाकाव्य चरित-ग्रन्थो को प्रबन्ध काव्य कथाग्रन्थो को खण्ड काव्य तथा फुटकरसाहित्य को मुक्तककाव्य की कोटि मे सहज ही रखा जा सकता है। इन विधाओ के लक्षण एव समस्त विशेषताएँ उपरोक्त वर्गीकरण के ग्रन्थो मे परिलक्षित होती हैं। अत इसमे दो मत नही हो सकते कि अपभ्रंश-साहित्य ही आज के साहित्य का जन्मदाता है।

अपभ्रंश भाषा जन साधारण की भाषा होने से वसे ही अधिक प्रिय थी किन्तु कवियों ने विविध छन्दो द्वारा जो इसके साहित्य मे सरसता और मधुरता का समावेश किया है उसके कारण आज भी अपभ्रंश साहित्य पढते समय मन झूम उठता है। रड्ढा ढक्का चौपई पद्धडिया दोहा सोरठा घत्ता दुवई संसरिणि भुजगंप्रयात् दोधक और गाहा वे प्रमुख छन्द हैं जिनमें प्राय सम्पूर्ण अपभ्रंश-साहित्य रचा गया है। इससे सहज अनुमानित है जैन विद्वानो का छन्द शास्त्र मे भी कितना अधिकार था।

अपभ्रंश-साहित्य से सम्बन्धित जितनी अधिक सामग्री हमें प्राप्त होती है उतनी ही कम मात्रा मे अपभ्रंश-साहित्यकारो के जीवन-परिचय उपलब्ध हैं। बहुत ही कम कवियों ने अपनी कृतियो के साथ जीवन-वृत्तात का उल्लेख किया है। फिर भी कुछ प्रमुख कवियो का जीवनचरित जानने की हम कोशिश करेंगे। सभी का जीवन चरित जानने में अभी बहुत समय लगेगा।

(१) चतुर्मुख—कवि चतुर्मुख अपने समय के प्रमुख एवं प्रसिद्ध कवि थे। इनका समय ८ वीं सदी माना जाता है। इनकी तीन कृतियो—हरिवंशपुराण पउमचरिउ और पंचमीचरिउ का उल्लेख है किन्तु इनमें से एक भी उपलब्ध नही है।

(२) महाकवि स्वयम्भू—अपभ्रंशसाहित्य के जन्मदाता के रूप में इनका नाम लिया जाता है। इनके पिता का नाम मारुतदेव माता पद्मिनी थीं। ये ९ वीं सदी के प्रतिष्ठित विद्वान थे। इनकी तीन पत्नियाँ थीं। अन्तिम पत्नी सुअव्वा के पुत्र का नाम त्रिभुवन स्वयम्भू था जिसने

स्वयम्भू के पउमचरिउ नामक ग्रन्थ को पूरा किया था। महाकवि स्वयम्भू के पांच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है जिनमें दो अनुपलब्ध हैं।

(३) महाकवि पुष्पदन्त—पुष्पदन्त श्रीकेशव एवं मुग्धा देवी की सन्तान थे। ये प्राकृत संस्कृत तथा अपभ्रंशभाषा के महापंडित थे। पुष्पदन्त स्वाभिमानी तथा उग्र प्रकृति के व्यक्ति थे। ये बड़े ही निस्पृही थे। प्रेम इनके जीवन का प्रमुख अंग था। इनका समय १ वी सदी का अन्तिम भाग तथा ११ वी का पूर्वार्ध माना जाता है। इनके तीनो ग्रंथ—महापुराण नागकुमारचरित एवं जसहरचरिउ प्रकाशित हो चुके हैं।

(४) धवल—कवि धवल आचार्य अम्बसेन के शिष्य थे। पिता नामसूर माता का नाम केसल्ल था। असम और पद्मकीर्ति के उल्लेख के कारण इनका समय १ वी सदी के लगभग अनुमानित किया जाता है। इनका हरिवंशपुराण अपभ्रंश साहित्य का प्रमुख ग्रंथ माना जाता है जिसमें करीब १८ श्लोक हैं।

(५) हरिषेण—ये मेवाड मे स्थित चित्तौड के निवासी थे। पिता का नाम गोवर्द्धन माता गुणवती थी। इनका समय ११७४ (ई) के करीब माना जाता है। धम्मपरिक्खा आपका प्रमुख ग्रन्थ है।

(६) कवि लक्ष्मण—ये १२वीं सदी के प्रमुख विद्वान् थे। लक्ष्मण की जगह इन्हे लाखू कवि के नाम से भी जाना जाता है। ये जयवाल वंश मे उत्पन्न हुए थे। पिता का नाम माहुल था। इनका जिनदत्तचरिउ प्रमुख ग्रंथ है।

(७) महाकवि रइधू—ये ग्वालियर के निवासी थे। पिता हरिसिंह माता का नाम विजयश्री था। ये श्रीपाल आचार्य के शिष्य थे। इनका समय १४८१ से १५३६ ई तक माना जाता है। महाकवि रइधू आशु कवि थे। इनकी रचनाओं मे ऐतिहासिक तथ्यो का उल्लेख अधिक मिलता है। रइधू के कुल मिलाकर २३ २४ ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है। अत इन्होंने अपभ्रंश-साहित्य को सबसे अधिक समृद्ध किया है।

इस तरह अपभ्रंश-साहित्य के और भी प्रमुख कवियो का कुछ जीवन चरित हमे प्राप्त होता है उन सबका यहाँ उल्लेख करना सम्भव नही। कुछ कवियो के नाम ही मात्र ज्ञात होते है किन्तु उनकी रचना से उनके व्यक्तित्व का पता चल जाता है। लेकिन कुछ ऐसे कवियो का भी उल्लेख है जिनके न जीवन चरित का पता है न रचनाओ का। फिर भी उन्हे अपभ्रंश साहित्य के कवि मानने मे हमे संकोच नही होता। इस तरह कुलमिलाकर करीब ९२ ९५ जैन कवियो की लेखनी अपभ्रंश-साहित्य के निर्माण मे चली है।

यह अपभ्रंश साहित्य और साहित्यकारो का संक्षिप्त परिचय है इस निबन्ध द्वारा अपभ्रंश साहित्य का भण्डार और महत्व दर्शाने का ही प्रयास किया गया है। इसमे इतने विशाल अपभ्रंश साहित्य की सम्पूर्ण सामग्री आ गयी हो ऐसी बात नही है। क्योंकि कुछ बातें चाहते हुए भी विषय विस्तार के भय से इसमे नही आ पायी। अन्त मे इतना ही कहना है कि अपभ्रंश साहित्य के अन्तर्गत करीब १७५ ग्रन्थो का उल्लेख है। इनमें से (१) अणगचरिउ (२) अणुपेहा (३) चंदप्पहचरिउ (४) झाणपईव (५) पउमचरिउ (६) महापुराण (७) हरिवंशपुराण (८) वरंगचरिउ (९) संतिणाहपुराण (१) स्वयम्भूव्याकरण आदि २५ ग्रंथ अनुपलब्ध हैं।

(१) कुवलयमाला (२) करकंडुचरिउ (३) पउमसिरिचरिउ (४) महापुराण (५) जसहरचरिउ (६) सोहंथुति (७) पउमचरिउ (८) णेमिकुमारचरिउ (९) कुमारपालप्रतिबोध (१०) मदनपराजय आदि २ २१ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। शेष करीब १३ ग्रन्थ अप्रकाशित रूप मे ग्रन्थ-भंडारों में पडे विद्वान अन्वेषकों एवं प्रकाशकों की राह देख रहे हैं।

इसमे कोई शक नहीं कि मध्ययुग का सांस्कृतिक एवं सामाजिक अध्ययन बिना अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश मे लाये पूर्ण नहीं हो सकता। अत: आवश्यकता इस बात की है कि यदि हम चाहते हैं मध्ययुग की सभ्यता संस्कृति जीवित रहे अनुपलब्ध अप्रकाशित अपभ्रंश साहित्य प्रकाश में आकर हमे एक नवीन दिशादान दे एवं उन अथक परिश्रमी मनीषी-साहित्यकारों की परम्परा अक्षुण्ण रहे तो अन्वेषण के क्षेत्र मे हमे नया कदम उठाना होगा। नये अन्वेषक तैयारकर उन्हें सारी सुविधाएँ जुटानी होगी। तभी अपभ्रंश-साहित्य का सितारा चमकेगा।

● ● ●

हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत पद्यों
का
तुलनात्मक अध्ययन
प्रो० शालिग्राम उपाध्याय

[आचार्यप्रवर हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत पद्यों पर विचार करने वाले समीक्षकों ने बताया है कि उनमें से अनेक पद्य भिन्न भिन्न स्थानों से लेकर या तो उसी रूप में या कुछ परिवर्तनों के साथ संगृहीत हैं। यहाँ उन्हीं का समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।]

हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत पद्यों पर विचार करने वाले समीक्षकों ने बताया है कि उनमें से अनेक पद्य भिन्न भिन्न स्थानों से लेकर या तो उसी रूप में या कुछ परिवर्तनों के साथ संगृहीत है। कई विद्वानों ने अनेक पद्यों के मूल रूपों का पता भी लगाया है। यहाँ उन पद्यों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है जो या तो उसी रूप में या कुछ परिवर्तनों के साथ हेमचन्द्र से पूर्व या उनके बाद प्राप्त होते हैं।

हेमचन्द्र का समय १ ११७२ ई० तक माना जाता है। उनसे पूर्व १ ई० के आस पास पाहुडदोहा के रचयिता रामसिंह ने पाँच ऐसे दोहे दिये हैं जो बहुत कम परिवर्तनों के साथ हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में मिलते हैं।

रामसिंह १ सयलु वि कोवि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तणेण।
सिद्धत्तणु परि पावियइ चित्तहं णिम्मल एण॥ (पाहुड ८)

[सभी कोई सिद्धत्व के लिए तडफडाता है। पर सिद्धत्व चित्त के निर्मल होने से ही मिल सकता है।] हेमचन्द्र ने इसमें परिवर्तन किया है—

साहु वि लोउ तडप्फडइ वड्डत्तणहो तणेण।
वड्डप्पणु परिपाविअइ हत्थि मोकलडेण॥ (४।३६६।१)

हेमचन्द्र ने सर्व के स्थान पर साहु प्रयोग का यह उदाहरण दिया है। इस प्रकार उन्होंने पाहुड के सयलु का संशोधन किया है। सिद्धत्तण के स्थान पर वड्डत्तण या वड्डप्पणु रख कर एवं चित्तहं णिम्मल एण की जगह हत्थि मोकलडेण रख कर धार्मिकता के स्थान पर लौकिकता पर विशेष बल दिया है। बडप्पन के लिए मुक्तहस्त दान का विधान हेमचन्द्र का प्रतिपाद्य है।

रामसिंह का दूसरा दोहा—

२ छंडेविणु गुणरयणणिहि अग्घथडिहि घिप्पंति।
तहिं संखाहं विहाणु पर फुक्किज्जंति ण भंति॥ (पाहुड १५१)

[गुणों के रत्नाकर (समुद्र) को छोड़ कर शंख बिकी हुई वस्तुओं की ढेर मे फेंके जाते हैं और फिर वहाँ उन का क्या विधान होता है ? वे फूंके जाते हैं इसमें भ्रान्ति नहीं। अर्थात् जो सत्संगति छोड़ देते हैं उनकी बड़ी दुर्गति होती है। हेमचन्द्र में इसका रूप यों है—

'जे छड्डेविणु रयणनिहि अप्पउँ तडि घल्लन्ति।
तहँ सखहँ विट्टालु पर फुक्किज्जन्त भमन्ति॥ (हे ४२२।३)

यहाँ हेमचन्द्र ने छडेविणु को 'छड्डेविणु' ता किया ही द्वितीय चरण को एकदम बदल दिया है। तहि को तहं एवं विहाणु' को विट्टालु कर दिया है। इसी प्रकार 'फुक्किज्जंत ण भंति की जगह फुक्किज्जत भमन्ति कर के हेमचन्द्र ने पाहुडदोहे मे पर्याप्त परिवर्त्तन किया है। वास्तव में यह उदाहरण विट्टालु के लिए है जो अस्पृश्य संसग के लिए अपभ्रंश में प्रयुक्त होता है।

३ रामसिंह का तीसरा दोहा है--

अखइ णिरामइ परमगइ अज्जवि लउ ण लहंति।
भग्गी मणहण भंतडी तिम दिवहडा गणंति॥ (पाहुड १६६)

[अक्षय निरामय परमगति मे अभी तक लय को प्राप्त नहीं होते और मन की भ्रांति मिटी नहीं इसी प्रकार दिन गिनते है। अर्थात् आत्मा मे लीन हुए बिना सच्चा आत्मकल्याण नहीं हो सकता]

हेमचन्द्र के यहां इसे निम्नलिखित रूप मे देखते हैं—

प्राइव मुणिहँ वि भंतडी तें मणिअडा गणंति।
अखइ निरामइ परम पइ अज्जवि लउ न लहंति॥ (४१४।२)

प्राइव के प्रयोग के लिए हेमचन्द्र ने यह उदाहरण दिया है। अत हेमचन्द्र ने प्राइव ता जोड ही दिया है। इसके अतिरिक्त मणियो की गणना करने की बात करके दिवहडा की गणना की अपेक्षा दोहे को अधिक सरस और उत्कृष्ट बना दिया है।

४ रामसिंह का चौथा दोहा है–

जिम लरेणु विलिज्जइ पाणियइ तिम जइ चित्तु विलिज्ज।
समरसि (स) हुवइ) (उ) जीवडा काई समाहि करिज्ज॥ (पाहुड १७६)

[जसे लवण पानी मे विलीन हो जाता है वैसे यदि चित्त विलीन हो गया तो जीव समरस हो गया और समाधि में क्या किया जाता है।]

इसी प्रकार का एक दोहा बौद्ध सिद्ध कवि कण्हपा (९ वीं शती ई) के दोहा-कोश में मिलता है—

'जिम लोणु विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरणी लइ चित्त।
समरस जाई तक्खणे जइ पुणु ते समणित्त॥

जैसे पानी से मिलकर लवण समरस हो जाता है उसी प्रकार गृहिणी चित्त से मिले तो समरसता हो। हेमचन्द्र ने लिखा है—

लोणु विलिज्जइ पाणिएँण अरि खल मेह म गज्ज ।
वालिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्ज ।। (४१८।५)

हेमचन्द्र ने पाहुड दोहे का भावात्मक संशोधन भी किया है । समाधि संबंधी समरसता अर्थात् दार्शनिकता से ऊपर उठा कर अपने दोहे के द्वारा उन्होने रतिवृत्ति को जागरित करने का प्रयत्न किया है । अत उनका दोहा लौकिक शृंगारिक हो गया है ।

५ रामसिंह का पाँचवा दोहा है—

जइ इक्कहि पावीसि पय अकय कोडि करीसु ।
ण अंगुलि पय पयडणह जिम सव्वगय सीसु ।। (पाहुड १७७)

[यदि एक ही पद को पा गया तो अमृत कौतुक करूँगा जमे उँगली पद प्रकट करने से अवश्य शेष अंग प्रकट हो जाते हैं ।]

इसका परिवर्तित रूप हेमचन्द्र के दोहे मे यो है—

जइ केवइँ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु ।
पाणिउ णव सरावि जिव सव्वङ्गे पइसीसु ।। (३९६।४)

इस दोहे मे भी हेमचन्द्र ने शृङ्गारिकता लाकर इसे सरस बना दिया है । इस तरह हम देखते हैं कि हेमचन्द्र ने उपर्युक्त पाहुड दोहो को सशोधित एव परिष्कृत किया है । उन्हे दार्शनिकता या धार्मिकता से उठाकर साहित्यिक बना दिया है । भाषा की दृष्टि से भी हेमचन्द्र ने उपर्युक्त दोहो को परिष्कृत किया है । हेमचन्द्र का अपभ्रंश Standerd (प्रतिमित) अपभ्रंश है । उपर्युक्त पाहुड दोहो की चर्चा डा हीरालाल जन ने पाहुडदोहा की भूमिका मे की है ।

एक दूसरे कवि है जन मुनि जोइन्दु (योगीन्द्र) । इनका समय भी १ ई के आसपास माना जाता है । इनके द्वारा रचित परमप्पपयास (परमात्मप्रकाश) मे भी तीन ऐसे दोहे मिलते हैं जिनका सम्बन्ध हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरणोद्धृत पद्यो से जोडा जा सकता है । प्रथम दोहा है—

१ पंचह णायकु वसि करहु जेण होन्ति वसि अण्ण ।
मूल विणट्ठई तरुवरहं अवसइ सुक्कहिं पण्ण ।। (२७१)

[पाँचो के नायक को वश मे करो जिससे अन्य सभी वश में होते हैं । तरुवर के विनष्ट होने पर पत्ते अवश्य ही सूख जाते है ।]

इससे तुलनीय हेमचन्द्र का पद्य है—

जिब्भिन्दउ नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइं अन्नइं ।
मूलि विणट्ठ तुंबिणिहे अवसें सुक्कहिं पण्णइं ।। (४२७।१)

हेमचन्द्र ने 'अवसें' के प्रयोग के लिए यह उदाहरण दिया है । जोइदु के यहाँ यह अवसइ है । इन्द्रियो और पर्णों की नपुंसकता ने यहाँ अधिन्नइं अन्नइ पण्णइं' कराकर दोहे का रूप बिगाड़ दिया है । हेमचन्द्र ने छन्द की दृष्टि से इसमे परिवर्तन कर दिया है । सभव है कई स्वरो का गटकते हुए कोई इसे दोहे के समान भी पढ़े । जोइंदु का दूसरा दोहा है –

२ बलि किउ माणुस जम्मडा देक्खंतहं पर सारु ।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु ।।

[परम-तत्त्व को देखते हुए मनुष्य-जन्म को बलि कर दो अथवा मनुष्य का जन्म जो, देखने में परमोत्कृष्ट लग रहा है, उसकी बलि कर दो क्योंकि यदि इसे (पानी या मिट्टी में) रखा जाय तो सड़ जाता है और यदि जलाया जाय तो क्षार हो जाता है।] यहाँ मनुष्य-शरीर की नश्वरता पर ध्यान आकृष्ट किया गया है जिससे परम तत्त्व प्राप्त किया जा सकता है। हेमचन्द्र का निम्नलिखित दोहा तुलनीय है—

आयहो दड्ड कलेवरहो जं वाहिउ तं सारु।
जइ उट्ठब्भइ तो कुहइ अह डज्झइ तो छारु॥ (३६५।३)

हेमचन्द्र ने यहाँ पूर्वार्द्ध परिवर्तित कर दिया है। मानव शरीर की नश्वरता नहीं प्रस्तुत उसकी क्षणिकता में भी सारतत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है।

परमप्पपयास का तीसरा दोहा है—

३— संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउं हउं तासु।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु॥" (२७)

[विषयों के रहते हुए जो उनका परिहार करता है उसको मैं बलि करता हूँ (जाता हूँ) जिसका शिर खडिल्ल है—जो खल्वाट है अर्थात् जो गंजा है वह तो दैव द्वारा ही मुंडित किया गया है। विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। के द्वारा कालिदास ने उन्हें धीर कहा है। जोइंदु का उपर्युक्त दोहा हेमचन्द्र के निम्नलिखित दोहे से तुलनीय है—

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहों बलि कीसु।
तसु दइवेण वि मुण्डिअउँ जसु खल्लिहडउँ सीसु॥ (३८९।१)

यहाँ विसय का भोग और खडिल्लउ का खल्लिहडउ तो हो ही गया है बीच में कन्त का भी आगमन हो गया है।

इससे भाव-साम्यवाला एक छन्द दशवकालिक में द्रष्टव्य है—

वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुञ्जन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिये भोए लद्धे विप्पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥—(दशव ११।२ ३)

हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत दोहों के संबंध में जर्मन विद्वान रिचार्ड पिशेल का कथन है कि उन्हें (हेमचन्द्र के दोहों को) देखकर कुछ ऐसा लगता है कि वे किसी ऐसे संग्रह से लिए गए हैं जो सतसई के ढंग का है, जैसा कि त्साखारिआए (गोएटिंगिशे गेलेर्ते आन्त्साइगेन १८८४ पे ३ ९) ने बताया है। हेमचन्द्र के पद ४।३५७।२ और ३ सरस्वतीकंठाभरण के पेज ७६ में मिलते हैं जहाँ उनकी सविस्तर व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र ४।३५३ चंड २ २७ पेज ४७ में मिलता है। हेमचन्द्र ४।४२०।५ सरस्वतीकंठाभरण के ९८ में मिलता है और ४।३६७ ५ शकसप्तति के पेज १६ में आया है।

---

१ डॉ हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित प्राकृत भाषाओं का व्याकरण।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पिशेल ने हेमचन्द्र के ४।३५७ २ और ३ जिन दो छन्दों की चर्चा की है वे वस्तुत दो छन्द नहीं अपितु एक ही छन्द है और वह भोजराज (१ ५७ ई) के सरस्वती कंठाभरण (काव्यमाला ९४ द्वितीयावत्ति १९३४ ई) के प्रकीर्ण घटना के उदाहरण मे दूसरे परिच्छेद के ७६ वें उदाहरण के रूप मे सचमुच सुदीर्घ व्याख्या के साथ उपलब्ध है। उदाहरण द्रष्टव्य है—

१ एक्किहिं अच्छिहिं सावणु अण्णहिं भद्दवउ
माहउ महिअल सत्थरि गण्डत्थल सरउ।
अङ्गहिं गिह्म सुहच्छिइ तिलवण मग्गसिरु
मुद्धिहिं मुहपङ्कअसरि आवासिउ सिसिरु ।। (२।७६)

हेमचन्द्र का परिवत्तन है—एक्कहिं अक्खिहिं गण्ड थलें गिह्म सुहच्छी निलवणि एव तहे मुद्धहे मुहपङ्कइ आवासिउ सिसिरु।

यहाँ हम दखते हैं कि हेमचन्द्र का ३५७।२ जो सभवत रासक या आभाणक छन्द है कुछ परिवत्तनो के साथ सरस्वताकठाभरण में प्राप्त है। तहे मुद्धहे मुहपकइ का प्रमुख परिवर्त्तन हेमचन्द्र मे अधिक सरस है। सरस्वताकठाभरण मे भी यह उदाहरण अन्यत्र से लिया प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक दूसरा स्थल जिसकी चर्चा पिशेलने की है निम्ननिखित परिवर्त्तित रूप मे विरोधमूलक असंगति के उदाहरण के रूप में यो प्राप्त होता है—

२ सा उप्पडी गोट्ठउहि णोक्खी कावि विसगण्ठि।
भिडिय पचेल्लिउ सो मरइ जस्स ण लग्गइ कण्ठि ।।

सरस्वतीक (३।६२)

हेमचन्द्र के यहाँ यह है—

साव सलोणी गोरडी नवखी कवि विसगण्ठि।
भडु पच्चलिउ सो भरइ जासु न लग्गइ कण्ठि ।। (४२ ।३)

हेमचन्द्र ने दोहे का स्वरूप अक्षुण्ण रखा है। साव सलोणी गारडी और भडु पच्चलिउ आदि परिवर्त्तनो के द्वारा रसात्मकता भी पर्याप्त आ गई है। हेमचन्द्र के यहाँ यह उदाहरण प्रत्युत के स्थान पर पच्चलिउ आदेश का है किन्तु यह पच्चलिउ सरस्वतीकंठाभरण वाले उदाहरण में पचेल्लिउ है।

इसी प्रकार पिशेल न शकसप्तति (समय अभी अज्ञात है) के पृ १६७ वाले जिस उद्धरण की चर्चा की है जिसे हेमचन्द्र के ३६७।५ से तुलनीय बताया है व० शकसप्तति की ५७ वी कथा मे निम्नलिखित रूप मे मिलता है—

जइ ससिणेही तउ मुई जइ जीवइ ससिणेह।
दुहिम परायहिं गअधर किं गच्छसि खल गेह ।। (श्लोक २५७)

हेमचन्द्र के यहाँ इसका रूप है—

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह।
बिहिं वि पयारेंहि गइअ धण किं गज्जहि खल मेह ।। (३६७।४)

स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने इसे भाषा छन्द और साहित्यिकता तीनों दृष्टियों से सुव्यवस्थित रखा है।

पिशेल ने चंड (जिसे हेमचन्द्र से पूर्व का वैयाकरण माना जाता है) के जिस उद्धरण की चर्चा की है मैं समझता हू रेवतीकान्त भट्टाचार्य द्वारा संपादित प्राकृतलक्षण के ११२४ वीं सूत्र के रूप में वह प्राप्त है—

कमलइँ मल्लवि अलि उलइँ करि गण्डाइ महंति।
असुलहू एत्थ ण जाहँ भलि ते णवि दूरं गणंति॥

यह दोहा हेमचन्द्र के अपभ्रंश व्याकरण में निम्नलिखित रूप में मिलता है—

कमलइं मेल्लवि अलि उलइं करि गण्डाइं महन्ति।
असुलहु मेच्छण जाहं भलि ते णवि दूर गणन्ति॥ (३५३।१)

हेमचन्द्र के यहाँ म-लवि का मे-लवि' असुलहू एत्थ ण' का असुलहू मेच्छण' और दूरं का दूर हो गया है। फिर भी चंड के दोहे का विशेष संशोधन नहीं हुआ वह करीब-करीब वैसा ही है।

हेमच-द्र के ४।४४७ सूत्र के उ-ाहरण मे जो शदमाणुशमंशभालके आदि गद्यवत् अंश प्राप्त होता है वह भट्टनारायण (७२८ ई) कृत वेणीसंहार के तीसरे अक से लिया गया है। वह एक श्लोक है जो सरस्वतीकंठाभरण मे भी उद्धत है। वेणीसंहार में वह द्रष्टव्य है—

शद माणशमंशभालके कुम्भशहश्श वशाहि शंचिदे।
अणिशं च पिआमि शोणिदे वलिशशदे शमले हुवीअदि॥

हेमच-द्र ने माणुश' को माणुश और शहश्श को शहस्र वशाहि को वशहि कर दिया है। जो मागधीकी प्रकृति के प्रतिकूल है। संभवत य० पाठभेद का प्रभाव है। हेमच-द्र जैसा प्राकृत का प्रकृष्ट आचाय भाषा-संबंधी ऐसी मोटी भूल नहीं कर सकता। अत उनके व्याकरण के किसी सु दर प्रामाणिक रूप के न मिलने के कारण ऐसी स्थिति अनेकत्र उत्पन्न हो जाती है।

हेमच-द्र द्वारा उद्धृत ४४ ।१ हिट्ठ ट्ठिअ' आदि गाहा वाकपतिराज (७३६ ई) कृत गउडवहो के मगलाचरण से लिया गया है। वहाँ णिवारणाय और दुरुक्खया के स्थान पर क्रमश णिवारणाअ और दुरुक्खआ' यश्रुति की अपेक्षा उद्वृत्त स्वर मिलते हैं। यथा—

हेट्ठ ट्ठिअ सूर णिवारणाअ छत्तं अहो इव वहन्ती।
जअइ ससेसा वाराह सास-दुरुक्खआ पुहवी॥' (मंगलाच १५)

श्रीचन्द्रशर्मा गुलेरी ने बताया है कि हेमचन्द्र (४ ९।१) ते मुग्गडा हराविआ वाली गाथा राजशेखर सूरि (१३ ई) कृत चतुर्विंशतिप्रबन्धगत श्रावक प्रबन्ध में भी मिलती है। इसी प्रकार उ-होने 'पुत्तें जाए कवणु गुणु' (हेमचं ३९५।६) से परिवर्तित बेटाजायां कवण गुण' की चर्चा की है। इस दोहे के साथ ही एइति घोडा एह थलि' हेमचन्द्र (३३०।४) दोहे को भी कुछ परिवर्तनों के साथ ठाकुर भूरिसिंह जी शेखावत के विविध संग्रह मे हेमचन्द्र के नाम से प्राप्त होने की बात उन्होने की है। (द्रष्टव्य पुरानी हिंदी पृ० १६ और (१५३)

हेमचन्द्र ४१६।३ वाला दोहा—

जउ पवसन्तें सहुँ न गय न मुअ विआएँ तस्सु।
लज्जिज्जइ संदेसडा दिन्तेंहिँ सुहय जणस्सु॥"

अद्दहमाण (राहुलजी के अनुसार समय १ १० ई) कृत संदेशरासक में

जसुपवसन्त ण पवसिया मुइअ वियोहिण जासु।
लज्जिज्जउ संदेसडउ दिंती पहिय पियासु॥ (संदे ७)

रूप मे प्राप्त होता है। संदेशरासक की सरलता देखकर लगता है या तो यह दोहा लोक से अथवा हेमचन्द्र से लेकर प्रकरण के अनुकूल जोड गया है अथवा प्रक्षिप्त है। कुछ विद्वानों ने अद्दहमाण का समय हेमचन्द्र के बाद भी बताया है। इस आधार पर सभव है अद्दहमाण ने ही इसे लिया हो और जउ' को जसु तस्सु के स्थान पर जास और जणस्सु के स्थान पर पियासु कर दिया हो।

प गुलेरीजी ने पुरानी हिंदी मे सोमप्रभ सूरि (११९५ ई) की कुछ रचनाओं को उद्धृत किया है जिनमे कुछ ऐसे उद्धरण हैं जो हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत दोहों मे किंचित् परिवर्तन के साथ पाये जाते है। यथा —

१—मारिण पणट्टइ जइ ण तणु तो देसडा चइज्ज।
मा दुज्जन कर पल्लविहि दसिज्जंतु भमिज्ज॥ (पु हिं पृ ८१)

हेमचन्द्र —माणि पणट्ठइ जइ न तणु तो देसडा चइज्ज।
मा दुज्जण कर पल्लवेंहि दसिज्जन्तु भमिज्ज॥ (४१ ।४)

परिवतन नही के बराबर।

२— मई जाणियउ पिय विरहियह कवि धर होइ वियालि।
नवरि मयकु वि तह तवइ जह दिणयरखयकालि॥ (पु हिं पृ ८८)

हेमचन्द्र के यहाँ—

मइँ जाणिउँ पिअविरहिअहँ कविधर होइ विआलि।
णवर मियङ्कु वि तिह तवइ जिह दिणयरखयगालि॥ (३७७।१)

हेमचन्द्र का णवर तिह जिह और खयगालि सोमप्रभ के यहाँ नवरि तह जह और खयकालि हो गया है। कोई विशेष परिवर्त्तन नही है।

३— मरगयवन्नह पिय उरि पिय चपय यह देह। (समस्या)
कसवट्टइ दिन्निय सहइ नाइ सुवन्नह रेह॥ (पूर्ति)
(पु हिं पृ ८९)

हेमचन्द्र ३३ ।१ से यह तुलनीय है। हेमचन्द्र ने लिखा है—

ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी।
णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी॥ (हे च ३३ ।१)

सोमप्रभ और हेमचन्द्र के छन्द में भी अन्तर है।

४— चूडउ चुन्नी होइसइ, मुद्धि कवोलि निहित्तु । (सकला)
सासानलिण झलक्किअउ बाहु सलिल संसित्त ॥' (पुरित)

हेमचन्द्र के यहाँ इसका निम्नलिखित रूप द्रष्टव्य है—

चूडुल्लउ चुण्णी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ ।
सासानलजाल-झलक्किअउ वाह-सलिल संसित्तउ ॥ (हे० व्या० ३९५।२)

हेमचन्द्र की अपेक्षा सोमप्रभ के यहाँ दोहा का स्वरूप सुरक्षित है । यह उदाहरण 'झलक्क' का प्रयोग दिखाने के लिए दिया गया है । सोमप्रभ और हेमचन्द्र दोनों के यहाँ 'झलक्किअउ' है । पर हेमचन्द्र के यहाँ चूडुल्लउ निहित्तउ और संसित्तउ है और सोमप्रभ के यहाँ चूडउ निहत्तु और संसित्त' ।

५— 'अम्हे थोडा रिउ बहुय इउ कायर चिंतंति ।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति ॥ (पु० हिं० पृ० ९२)

हेमचन्द्र के यहाँ—

अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति ।
मुद्धि निहालहि गयण-यलु कइ जण जोण्ह करन्ति ॥ (३७६।१)

हेमचन्द्र के यहाँ थोवा सोमप्रभ के यहाँ थोडा हेमचन्द्र के यहाँ बहुअ उद्वृत्त स्वरयुक्त सोमप्रभ के यहाँ बहुय यश्रुतियुक्त हेमचन्द्र के यहाँ कायर एम्व भणन्ति है और सोमप्रभ के यहाँ इउ कायर चिंतंति हेमचन्द्र के यहाँ कइ जण जोण्ह करंति' सोमप्रभ के यहाँ कइ उज्जोउ करंति । इस प्रकार इस दोहे में कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है । उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से हेमचन्द्र के छन्द जिनमे कुछ छन्दों मे दोहाका लक्षण घटित नहीं होता स्पष्ट हो जाते हैं । हेमचन्द्र के दोहों की स्पष्टता के लिए सोमप्रभ के दोहा का तुलनात्मक अध्ययन महत्त्वपूर्ण है ।

हेमचन्द्र के ३५२।१— वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहस त्ति ।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड त्ति ।

मँजे हुए राजस्थानी रूप की चर्चा प० चन्द्रधरशर्मा गुलेरी ने यों की है—

काग उडावण जावंती पिय दीठो सहसत्ति ।
आधी चूडि काक गल आधी टूट तडित्ति ॥ (पु० हि० पृ० १५)

हेमचन्द्रका—'विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ तो वि तं आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु तो तें अग्गिं कज्जु ॥ (३४३।२)

प्राकृत पैंगलम् की निम्नलिखित गाहा से तुलनीय है—

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि ।
पत्ते वि णयर डाहे भण कस्स न वल्लहो अग्गी ॥ (१।५५)

हेमचन्द्र के दोहे से भाव-साम्य वाला एक छन्द सरस्वतीकंठाभरण मे भी प्राप्त होता है—

जो जस्स हिअअ दइओ दुक्खं देन्तो वि सो सुहं देइ ।
दइअ णह दूहमाणं वि वड्ढइ थणआणं रोमञ्चो ॥ (४।१६१)

[जो जिसके हृदय का दयित है वह दुख देता हुआ भी सुख देता है। प्रिय के नख से क्षत स्थानों पर रोमांच बढ़ता है।

सूरदास के संबंध में प्रसिद्ध दोहा—

बाह छुडाए जात हो निबल जानि कै मोहिं।
हिरदय से जौ जाहुगे मरद बदौगो तोहि ॥ श्री हेमचन्द्र के

बाह विछोडवि जाहि तुहुँ हउ तेवँइ को दोसु।
हिअयट्ठिउ जइ नीसरहि जाणउँ मुञ्ज सरोसु ॥ (४३९।३)

नैषधीय-चरित के एक श्लोक में नल के सिर पर स्थित चिकुर समूह के दो भागों मे बँटे होने की चर्चा है जिसमें श्री हर्ष ने उसके दो दोषो की उत्प्रेक्षा की है। वहाँ एक प्रकार से नल की प्रशंसा ही की गई है—

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययमरु ।
अमानि तत्तन निजायशो युगं द्विफालबद्धाश्चिकुरा शिर स्थितम् ॥ (१।१६)

अपभ्रंश व्याकरणोद्धत दोहो मे भी एक नायिका का भाव अपने पति के संबंध मे कुछ इसी प्रकार का है। वह अपने पति के दो दोषो की चर्चा करती है—

महु कन्तहो बे दोसडा हेल्लि म झङखहि आलु।
दन्तहो हउ पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु ॥ (३७९।१)

हेमचन्द्र के अपभ्रंश दोहो मे प्रकृति निरीक्षण संबंधी निम्नलिखित

दोहा रवि अत्थमणि समाउलेण कण्ठि विइण्णु न छिण्णु।
चक्कें खण्डु मुणालिअह नउ जीवग्गलु दिण्णु ॥ (४४४।१)

इससे भाव-साम्यवाला एक श्लोक काव्यप्रकाश मे भी मिलता है जिससे गुलेरीजी ने सुभाषितावली से लिया हुआ बताया है। श्लोक निम्नलिखित है —

मित्र क्वापि गते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु जातविरहाशंका विलोक्य प्रियाम्।
चक्राह्वेन वियोगिना यत्कृत नास्वादितं नोज्झितं
कण्ठे केवलमर्गलेव विहिता जीवस्य निगच्छत ॥

इस तरह देखते है कि हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण मे उद्धृत अनेक पद्य उनके पूववर्ती जोइन्दु रामसिंह भोजराज चंडभट्टनारायण वाकपतिराज अद्दहमाण की रचनाओ से सम्बद्ध हैं। शाकसप्तति सुभाषितावली में मिलनेवाले श्लोक या पद्य भी हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरणोद्धृत पद्यो मे या तो शब्द परिवर्तन के साथ या उसी भाव मे मिलते है। प्राकृतपैंगलम् नैषधीयचरित आदि ग्रंथो मे भी हेमचन्द्र से भाव साम्य वाले पद्य हैं। सोमप्रभसूरि राजशेखर सूरि की रचनाओ मे या अनेक राजस्थानी प्रसिद्ध दोहो के रूप मे भी हेमचन्द्र के दोहे दिखाई पडते हैं। इसी प्रकार अनेकत्र अनेक छन्द बिखरे होगे जिनकी ओर विद्वानो का ध्यान जाना चाहिए। जिसमे उन दोहो या छन्दों की भाषा सम्बन्धी और भाव सम्बन्धी विशेषताओं का सम्यक निरूपण किया जा सके।

● ● ●

जैन-साहित्य में ग्राम-चेतना

श्रीरामनाथ पाठक 'प्रणयी'

[जैन साहित्य मे जहाँ ग्राम-चेतना निहित है, वहाँ तो उसकी भावभूमि और भी अधिक रस-प्रवण हो उठी है। ग्राम-चेतना के ऐसे मागलिक स्वर क्रान्तिदर्शी कवीश्वरों की द्राक्षा-स्पर्द्धिनी सूक्तियों एव तपःसिद्ध ऋषियों की उपदेश-वाणियों में समान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।]

आज से शताब्दियो पूर्व भारत के एक भारतीय ग्राम कुण्डग्राम की सौभाग्य समृद्धि पर सम्पूर्ण लिच्छवि जनपद अमन्द आनन्द मन्दाकिनी की लहरो मे हिलोरें लेने लगा था। वह शताब्दि त्रिसला की गोद मे अवतीर्ण आलोक पुज से जगमग हो रही थी। वह आलोक-पुंज अपने तारुण्य के प्रकर्ष मे तत्कालीन विस्तृत मानस क्षितिज प छा गया था। वह प्रभा ज्योति किसी भी प्रकार के मोह मे सवथा अनावृत थी।

सयमेव अभिसमागम्म आयय जोगमायसो हीए
अभिणिव्वुडे अमाइल्ले आवकह भगव समियासी।

स्वयमेव तत्त्वो को भली प्रकार जानकर आत्मशद्धिद्वारा मन वचन काया के योगो को अपने वश में करके शान्त माया रहित भगवान् यावज्जीवन पाँच समितियो एव तीन गुप्तियो से युक्त थे। भगवान् महावीर तब कुण्डग्राम छोड़ चुके थे।

भारतीय दर्शन एवं साहित्य को कलेवर चाहे बहुत पहले मिल गया हो किन्तु उसमे आत्मा का सञ्चरण निश्चय ही भगवान् महावीर का समकालीन मान्य होगा।

सच तो यह है कि जैन-साहित्य की अन्तिम निर्माण बेलामे प्राकृत की वीणा अत्यधिक सुरीली हो चुकी थी। जन जन के प्राणो पर शिशिर मधुर वाणी का जादू प्रसर कर गया था। तभी तो वाक्पतिराज का यह कथन यथार्थ प्रमाणित हो सका—

णवमत्थदंसण सनिवेससिसिराओ बन्धरिद्धीओ
अविरलमणिमो आभुवणबन्धमिह णवरपययम्मि।

[सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक प्रचुर परिमाण में नतन-नूतन अर्थों का दर्शन तथा सुन्दर रचनावाली प्रबन्ध-सम्पत्ति यदि कहीं भी है तो वह केवल प्राकृत में है।]

जयवल्लभ ने तो यहाँ तक कह डाला कि जब युवतियों का ललित, मधुर प्रिय तथा शृङ्गार रस-पूर्ण प्राकृत-काव्य उपलब्ध है तो संस्कृत कौन पढ़े?

ललिए महुरक्खरए जुवई-यण-वल्लहे स सिंगारे
संते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कय पढिउ।

प्राकृत की प्रशंसा में राजशेखर का श्लोक भी कम कमनीय नही है—

परुसो सक्कय-बंधो पाउअ बन्धो वि होइ सुउमारो
पुरिस-महिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं ।

[संस्कृत भाषा कर्कश और प्राकृत भाषा सुकुमार होती है । पुरुष और स्त्री में जितना अन्तर होता है, उतना ही इन दो भाषाओ मे है ।]

तो इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध है कि जन साहित्य के रस रक्त से ओज —पर्य त प्राकृत की सुधा प्रवाहित हो रही है । आज जैन साहित्य के सम्बन्ध मे जन-जीवन से सम्बद्ध यह धारणा निमू ल हो चुकी है कि जन-साहित्य केवल धर्म ग्रन्थो की पोथियो म ही समाहित है । जैन-साहित्य की परवर्ती उपलब्धियो के अनुशालन से साहित्य चिन्तको के समक्ष य० तथ्य अतिरोहित हो चुका है कि इसमें साहित्य की प्रत्येक विधा का अक्षय वभव विद्यमान है ।

निबन्ध कथा आख्यायिका उपन्यास चरित काव्य प्रबन्ध काव्य मुक्तक काव्य एव नाटक सब के-सब अपने चरमोत्कष पर पहुँचे हुए हैं । जैन-साहित्य की भाषागत विशिष्टता के साथ ही उसकी भावगत उत्कर्षता भी तर साहित्य के निए स्पर्द्धा की वस्तु है ।

जैन साहित्य मे जहां ग्राम चेतना निहित है वहां तो उसकी भावभूमि और भी अधिक रस प्रवण हो उठी है । ग्राम चेतना के ऐसे माङ्गलिक स्वर क्रातदर्शी कवीश्वरो की द्राक्षा-स्पर्धिनी सूक्तियो एव तप सिद्ध ऋषियो की उपदेश वाणियो मे समान रूपेण श्रतिगोचर होते हैं ।

सच तो यह है कि साधना की वही पृष्ठभूमि काव्य को अमरता प्रदान कर पाती है जो सामाजिक उर्वरक से सम्पन्न हो । इस दृष्टि से जन-साहित्य कला के सर्वोच्च शिखर पर आसीन है । यह प्रत्यक्ष है कि भारतीय समाज का अधिकाश गाँवो के अचल मे पलता है जहाँ प्राकृत की पुष्करिणी खिलखिला ही—

चोराण कामुआणं अ पामर पहिआण कुक्कुडो वअइ
रे रमह वहह वाहयह एत्थ तणु आअए रअणी ।

[अब रात थोड़ी सी बच रही है यह सूचित कर मुर्गा चोरो कामुको एव पथिको को सावधान कर रहा है ।]

ग्राम-जीवन मे मुग की स्थिति उपेक्ष्य नहीं है । अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुट जहाँ मुर्गे नही होगे वहाँ सुबह नही होगी प्रभृति उक्तियाँ कुक्कुटगत ग्राम चेतना के निदशन है ।

मज्झे पअणुअपङ्कं अमहोवासेसु साणबिक्खिन्नं
गामस्स सीससीमन्तअं व रच्छामुहं जाअं ।

[ग्राम का रास्ता बीच मे स्वल्पपङ्क एव दोनो ओर सान्द्रपङ्क धारण करके इसके शीषगत सोमन्त जसा प्रतीत हो रहा है । यहाँ ग्राम चेतना-समन्वित कल्पना की नवीनता सर्वथा मन प्राणो को झुमा देती है ।]

अप्पाहेइ मरन्तो पुत्तं पल्लीवई पअत्तेण
मह णामेण जह तुमं ण लज्जसे तह करेज्जासु ।

[मरता हुआ ग्राम गाँव का मुखिया यत्नपूर्वक अपने पुत्र को यह उपदेश दे रहा है कि बेटा, उस प्रकार काम करना, जिससे मेरा नाम लेने पर कोई तुम्हें लज्जित न करे।]

मुक्तक की इन पंक्तियों में शाश्वत ग्राम-चेतना लहरा रही है। मुक्तक का यह ग्राम मुखिया ग्राम-जीवन की उदात्त वृत्ति एवं लोक मंगल-भावना पर जो अमिट छाप छोड़ता जा रहा है वह केवल कल्पना की कल्पना से बोझिल नहीं तथ्य एवं यथार्थ से मण्डित है।

'गावो में अग्रत सन्तु गावो मे पृष्ठत सन्तु उक्तियो के रसनाग्रवर्त्तिनी होते ही आँखो मे ग्राम-जीवन रूपायित हो उठता है। गायें ग्राम जीवन में कामधेनु हैं। स्वर्ग के पारिजात धरती की इन कामधेनुओं से पराजित रहते हैं। लोकाराधन के अरण्यो से लेकर गाँवो तक गायों का समान योग है। हर्ष का विषय है कि जैन कवि इस लोकैषणा से पराङ्मुख नहीं हो पाये हैं। देखिए—

तह परिमलिया गोवेण तेण हत्थं पिजा ण ओल्लइ।
सच्चिअ धेणू एहिण्हं पेच्छसु कुडदोहिणी जाआ॥

[देखो जो धेनु पहले उस गोप द्वारा उस प्रकार दुही जाकर भी उसके हाथ को भी गीला नहीं कर पाती थी वही घड़ा भर कर दूध दे रही है।] और भी—

धवलो जिअइ तुह कए धवलस्स कए जिअन्ति गिट्ठीओ।
जिअ ताम्बे अम्ह वि जीविएण गोट्ठ तुमाअत्तं॥

[हे धेनु तुम्हारे ही सुख के लिए गोरा बैल प्राण धारण करता है एवं एक बार प्रसूता धेनुएँ भी उनके सुख के लिए जीवित हैं। तुम बची रहो अपने जीवन द्वारा तुमने हम लोगो के गोष्ठ को अपने अधीन कर रखा है।]

इसी प्रकार अधस्तन पंक्तियो में ग्राम के अंक मे खिली नवमल्लिका सदृश मनोज्ञ उपमा की नैसर्गिक छटा दर्शनीय है—

पङ्कमइलेण छीरेक्कपाइणा दिण्णजाणुवडणेण।
आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व सालिछेत्तेण॥

[पंक-मलिन केवल दुग्धपायी एवं घुटनो द्वारा चलनेवाले शिशु की भाँति पंक-मलिन केवल जलपायी एवं जानुस्थानीय (नाल) मृणाल-ग्रन्थिधारणशील शालि (धान्य) क्षेत्र द्वारा हालिक आनन्दोपभोग कर रहा है।]

वस्तुत उपमा-उपमेय के इस मणि कांचन-संयोग का दृश्योपभोग गाँव से बाहर दुर्लभ है।

वर्णन की रमणीयता का एक दूसरा उदाहरण प्रस्तुत है—

कहँ मे परिणइकाले खलसङ्गो होहिइ त्ति चिन्तन्तो।
ओणअमुहो ससूओ रुवइ व साली तुसारेण॥

[मेरे परिणतिकाल में अर्थात् पक्वावस्था में खलिहान एवं दुष्ट जन-खेल का संग कैसा होगा—यह चिन्ता कर मुख नीचे कर शूक-सहित शालि-धान्य तुषार के बहाने जैसे रो रहा है।]

ग्राम-पक्षियों में सुग्गे को ग्रामीणों द्वारा जितना प्यारोपहार उपलब्ध होता है, उतना अन्य किसी पक्षी को नहीं। गाँवों के अन्तरंग का निरीक्षण करने पर घर के बरामदों में टँगे हुए पिंजर

वन शुक की हरीतिमा को देख-देख आँखें अघा जाती है। वक्ष कोटर से निकलते हुए शुकों की कतार पर दृष्टिपात करते ही जैन कवि की कल्पना की उड़ान विस्मित कर देती है—

उग्रह तरुकोडराम्रो णिक्कन्त पुसुत्राणॅ रिञ्छोलि ।
सरिए जरिम्रो व्व दुमो पित्तं व्व सलोहिम्रं वमइ ॥

[देखो वक्षकोटर से पुंशुको की पंक्ति निकल रही है। जान पड़ता है कि शरत् मे ज्वराक्रांत वक्ष रक्तमिश्रित पित्त की उलटी कर रहा है।]

कवि की कितनी दूरदर्शिता है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि वर्षासु चीयते पित्त शरत्काले प्रकुप्यति वर्षा मे पित्तका संचय होता है और शरत् ऋतु मे उसका प्रकोप होता है। अत स्वभावत बढ़ा हुआ पित्त शरत्काल मे शरीर से बाहर निकलने के लिए उपद्रवकारी बन जाता है।

गाँवो के अन्त्यज पछी कौवे की दुर्दशा भी दर्शनीय है—

धाराधुव्वन्तमुहा लम्बिअपक्खा णिउचिम्रग्गीवा ।
वइवेढनेसु काम्रा सूलाहिण्णा व्व दासन्ति ॥

[खेतकी मेड के ऊपर बैठकर वृष्टिधारा द्वारा धोये हुए मुख लम्बे पंख एव फली हुई ग्रीवा वाले कौए शलद्वारा विद्ध जैसे प्रतीत हो रहे हैं।]

एक अन्य अतिसूक्ष्म ग्राम्य कल्पना की किंकिणी ध्वनिकी सरसता भी आस्वाद्य है—

महिसक्खन्धविलग्ग घोलइ सिंगाहम्र सिमिसिमन्त ।
आहम्रवीणाझंकारसद्दमुहल मसम्रबुन्द ॥

[भैंसो के कन्धे पर लगे मशकवृन्द सींगो द्वारा आहत होने पर मिम मिम शब्द करते करते आहत वीणा के झंकार की ध्वनि की भाँति मुखर हो घम रहे है।]

और भी—

जीहाइ कुणन्ति पिम्रं मवन्ति हिउम्रम्मि णिव्वुइ काउ ।
पीडिज्जन्ता विरसं जणन्ति उच्छू कुलीणा अ ॥

[गन्ना जिस प्रकार जिह्वा का स्वाद उत्पन्न करता है हृदय मे ताप निवृत्त कर शान्ति का विधान करता है एव निष्पीडित होने पर भी रस उत्पन्न करता है उसी प्रकार कुलीन व्यक्ति भी जिह्वा अर्थात् अनुकूल वचन द्वारा प्रियता उत्पन्न करते हैं। हृदय मे शान्ति प्रदान करते है एवं प्रपीडित होने पर भी प्रीति उत्पन्न करते है।]

सोचिए यह ईख ग्राम का ही रस स्रोत है न ? हाँ तो उसी गाँव मे उपात्त एक सुभग के प्रति किसी ग्रामीण के उक्ति-श्लेषके चमत्कार का आश्लेष कीजिए—

भुञ्जसु जं साहीण कुत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि ।
सुहम्र सलोणेण वि किं तेण सिणहो जहिं णत्थि ।

[अपने उद्योग द्वारा जो जुट रहा है उसीका भोजन करो। गँवई मे रन्धन काय के लिए लवण कहाँ मिलेगा ? हे सुभग ! जिस वस्तु मे स्नेह (स्निग्धता) नहीं है उसके केवल लवण (लावण्य) युक्त होने से क्या लाभ ?]

ग्राम-मर्यादा के एक अपर चित्रका साक्षात्कार करें---

चिरंडि पि अयाणन्तो लोश्रा लोएहिं गोरवब्महिया ।
सोणार तुलेव्व णिरक्खरा वि खन्धेहिं उब्भन्ति ॥

[अनेक व्यक्ति वर्णमाला के ज्ञान से रहित अनेक व्यक्तियों को गौरव में अधिक समझ कर स्वर्णकार की निरक्षर तुला की भाँति कन्धे पर झुलाकर ढोते हैं ।]

सरस मुक्तक-काव्यो की तरह दर्शन एवं उपदेश-वाणियो मे भी ग्राम चेतना को चमत्कृति के चरण चिह्न उपलब्ध हैं । जीव और कर्म के सम्बन्ध के प्रसग में कथित एक पद्य को मेरे कथन के समर्थन मे उपस्थित किया जा सकता है---

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गिण्हिऊण काउडियं ।
एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकाउडियं ॥

[जैसे कोई भार ढोनेवाला पुरुष कावड के द्वारा भार ढोता है वैसे ही जीव कायरूपी कावड के द्वारा कर्मरूपी बोझे को ढोता है ।]

इसी प्रकार सम्यकमिथ्यात्व गुणस्थान के सम्बन्ध मे यह श्लोक स्मरणीय है---

दहिगुडमिव वामिस्सं पुहभाव णेव कारिदुं सक्कं ।
एव मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ॥

[मिले हुए दही और गुड की भाँति जिसका पृथक स्वभाव नही बतलाया जा सकता ऐसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणाम वाला सम्यकमिथ्यात्व नाम का तीसरा गुणस्थान है ।]

क्रोध की निन्दा के प्रसग मे प्रस्तुत श्लोक कितनी हृदयस्पर्शिनी ग्राम-चेतना को लक्षित कर रहा है --

जध करिसयस्स धण्णं वरिसेण समजिद खले पत्तं ।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं ॥

[जसे खलिहान मे इकट्ठे किये गये किसान के वर्षभर के सारे अनाज को एक अग्नि का कण जला देता है वैसे ही क्रोधरूपी आग श्रमणसार अर्थात् श्रमण के तपरूपी पुण्य को जला देती है ।]

दान फल के स्वरूप निर्देशन का अवलोकन कीजिए---

जह उत्तमम्मि खित्ते पइण्णमण्णं सुबहुफल होइ ।
तह दाणफलं णेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तस्स ॥
जह मज्झिमम्मि खित्ते अप्पफल होइ वाविय बीयं ।
मज्झिमफलं विजाणह कुपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥
जह ऊसरम्मि खित्ते पइण्णबीयं ण कि पि रुहेइ ।
फलवज्जिय वियाणह अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥

[जैसे उत्तम क्षेत्र में बोया हुआ अन्न बहुत फल देता है वैसे ही तीन प्रकार के पात्रों को दिया हुआ दान का फल भी समझना चाहिए । जैसे मध्यम क्षेत्र में बोया हुआ बीज अल्पफल वाला होता है वैसे ही कुपात्र को दिया गया दान मध्यमफलवाला जानना चाहिए । एवं जैसे ऊसर क्षेत्र में

बोया हुआ बीज कुछ भी नही उगता है वैसे ही अपात्र को दिया गया दान भी बिलकुल निष्फल होता है ।]

शील एवं संगति मानव जीवन की विभूतियाँ है । जो मनुष्य इन्हे खो देता है वह अपने जीवन से हाथ धो बठता है । सच पूछा जाय तो [शील ही विशुद्ध तप है शील ही दर्शनशद्धि है और ज्ञानशद्धि है । शील ही विषयो का दुश्मन है और शील ही मोक्ष का सोपान है ।]

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य ।
सीलं विसयाण अरी सील मोक्खस्स सोपाणं ॥

संगति के विषय मे तो जितना भी कहा जाय अल्प ही है ।

देखिए—

तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हाविजदि णरस्स बुढढहिं ।
प हाविज्जइ पाडच्छी वि हु वच्छस्स फरुसेण ॥

[जैसे जिसका दूध सूख गया है ऐसी भा गाय बछडे के स्पर्श से प्रस्रावित हो जाती है अर्थात् उसका दूध भरने लगता है वसे ही तरुण मनुष्यो के भी वद्धो (विशष ज्ञानी एव तपस्वियो) की संगति से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है ।]

दु शील के चित्रण मे निम्नाकित श्लोक भी कम आकषक नही है—

जहा सुणी पूइकन्नी निक्कसिज्जई सव्वसो ।
एव दुस्साल पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई ॥

[जैसे सडे हुए कान वाली कुतिया सब जगह से हटा दी जाती है इसी तरह दु शील ज्ञानियो के प्रतिकूल रहनेवाला और वाचाल मनुष्य सब जगह से निकाल दिया जाता है ।]

एक श्लोक द्वारा परिग्रह के स्वरूप को पहचानने मे कठिनाई नही होगी ।

जह कुंडओ ण सक्को सोधेदु तदुलस्स सतुसस्स ।
तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ॥

[जैसे तुषसहित तदुल का अन्तर्मल नही दूर किया जा सकता उसी प्रकार परिग्र० सहित जीव का भी मोहरूपी मल नही छुडाया जा सकता ।]

इस प्रकार ग्राम-चेतना से अनुप्राणित कतिपय सरस मधुर मुक्तको क आस्वादन के पश्चात् यह नि सङ्कोच कहा जा सकता है कि जैन साहित्य मे ग्राम चेतना का सागर निश्चय ही अनन्त अनमोल मणि-मुक्ता रत्नो से समृद्ध हो महनीय हो रहा है ।

● ● ●

वैदिक तथा बौद्ध शिक्षा पद्धति के तुलनात्मक विवेचन सहित

प्राचीन भारत में जैन-शिक्षापद्धति

डा० हरीन्द्रभूषण

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

[जैन संस्कृति में चाण्डालों तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था। उत्तराध्ययनसूत्र में हरिकेशबल नामक चाण्डाल की चर्चा आती है जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुणों से अलंकृत था। जैन शास्त्रों में यह स्पष्ट कहा गया है कि वर्णव्यवस्था जन्मगत नहीं किन्तु कर्मगत है। अत शूद्रों के विद्याध्ययन में भी किसी प्रकार की बाधा नहीं आती थी]

व्यक्तित्व के विकास की दिशा मे ज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व है। मानव जीवन की सफलता मानव के ज्ञान की मात्रा पर अवलम्बित होती है। शतपथ-ब्राह्मण (११ ५ ७ १ ५) में ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि— स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र ो जाता है वह स्वतत्र बन जाता है नित्य उसे धन प्राप्त होता है वह सुख से सोता है वह अपना परम चिकित्सक है उसे इन्द्रियो पर सयम होता है उसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है और उसे यश मिलता है।

जनागम मे ज्ञान की अतिशय महिमा स्वीकार की गई है। शिष्य ने पूछा— ह पूज्य ! ज्ञान सपन्नता से जीव को क्या लाभ है ? । गुरु ने कहा— हे भद्र ! ज्ञान-संपन्न जीव समस्त पदार्थों का यथाथ भाव जान सकता है। यथार्थ भाव जानने वाले जीव को चतुर्गतिमय ससाररूपी अटवी मे कभी दु खी नही होना पडता। जसे धागा वाली सुई खोती नही है वैसे ही ज्ञानी जीव संसार मे पथ भ्रष्ट नही होता और ज्ञान चरित्र तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है।

जैन तथा बौद्धो ने लौकिक विभूतियो को तिलाञ्जलि दी और भिक्षु का जीवन अपना कर ज्ञान का अर्जन और वितरण किया। तत्कालीन समाज ने नतमस्तक होकर उन महामनीषियो की पूजा की और अपना सर्वस्व उनके चरणो पर न्योछावर कर दिया। अवश्य ही उन विद्वान्-साधुओ का समाज पर यह प्रभाव पडकर रहा कि अनेक राजाओ और राजकुमारो ने अपने वभव और ऐश्वय के पद को अंगीकार न करके जीवन भर ज्ञान मार्ग के पथिक रहकर सरल जीवन बिताया और अपने जीवन के द्वारा ज्ञान की महिमा को उज्ज्वल किया।

भारत में प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य सदाचार की वद्धि व्यक्तित्व का विकास प्राचीन संस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों की शिक्षा देना था।

---

१ उत्तराध्ययन २९ ५९।

२ वही २ भगवतीसूत्र—१२ २, १३ १ अन्तगडदशाओ—७।

३ एज्युकेशन इन एंश्येंट इण्डिया' लेखक—आल्तेकर, पृ ३२१

विद्यार्थी-जीवन

ब्राह्मण-संस्कृति के अनुसार बालक का विद्यार्थी जीवन उपनयन-संस्कार से प्रारम्भ होता है। इस संस्कार के पश्चात् उसका ब्रह्मचर्याश्रम-जीवन माना जाता है। उपनयन-संस्कार के बाद विद्यार्थी लगभग १२ वर्षों तक वैदिक धर्म साहित्य और दर्शन का अध्ययन करता था।

जैनागम में उपनयन-संस्कार का वर्णन है। अभयदेव ने उपनयन (उवणयण) का अर्थ 'कलाग्राहण' किया है। कला का अर्थ है विद्या। विद्या-ग्रहण के समय जो उत्सव मनाया जाता था उसे उपनयन कहा गया है। उपनयन के बाद माता पिता अपने पुत्र को कलाचार्य (विद्यागुरु) के साथ भेज देते थे।

प्राय छात्र अपने अध्यापकों के घर पर ही रहकर अध्ययन किया करते थे। कुछ धनी लोग नगर में भी छात्रों को भोजन तथा निवास देकर उनके अध्ययन में सहायक होते थे।[२] छात्र तथा अध्यापकों के सुंदर संबंध कभी वैवाहिक संबंधों के रूप में भी परिणत होजाते थे।[३]

अध्ययन-काल

वैदिक युग में ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ १२ वर्ष की अवस्था में होता था। उस युग में वेदों का अध्ययन ही प्रधान था।[४] अत १२ वर्ष की अवस्था से लेकर जब तक वेदों का अध्ययन चलता रहता था तब तक विद्यार्थी पढते रहते थे। साधारण रूप से १२ वर्ष का समय ब्रह्मचारी के लिए उचित माना गया है।

जैनागम के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक वर्ष से प्रारंभ होता था और जब तक वह कलाचार्य के निकट संपूर्ण ७२ कलाओं का अथवा कुछ कलाओं का अध्ययन नहीं कर लेता था तब तक उसका अध्ययन चलता रहता था।[६]

बौद्ध संस्कृति में कोई गृहस्थ अपने कुटुम्ब का परित्याग करके किसी अवस्था का होने पर भी बुद्धसंघ और बुद्ध की शरण में जाकर विद्याध्ययन में लग सकता था।

विद्या के अधिकारी

वैदिक काल में जिन विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी आचार्य प्राय उन्हीं को अपनाते थे। जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होती थी उन्हें फाल और हल या ताने बाने के काम में लगना पडता था।

बौद्ध संस्कृति में विद्यार्थी का सदाचारी होना आवश्यक माना गया है। तत्कालीन आचार्यों का विश्वास था कि दुष्ट स्वभाव का शिष्य कडे जूते के समान है जो क्रय किए जाने पर भी पैर को काटता है। दुष्ट शिष्य आचार्य से जो ज्ञान ग्रहण करता है उसी से उनकी जड काटता है। गौतम ने नियम बनाया था कि ढोंगी ढीठ मायावी तथा गृहस्थों की निन्दा करने वाले भिक्षुओं के लिए

---

१ भगवती ११ ११ ४२९ पृ ९९९ (अभयदेववृत्ति)। २ उत्तराध्ययन-टीका ६ पृ १२४। ३ वही १८ पृ २६३। ४ छान्दोग्य उपनिषद् ६ १ १ २। ५ गोपथब्राह्मण २ ५। ६ नायाधम्मकहाओ १ २ पृ २१। ७ छान्दोग्य उपनिषद् ६ १ २। ८ चुल्लवग्ग १ ७ २।

संघ में स्थान नहीं है। गौतम ने आदेश दिया था कि गृहासक्त पापेच्छु तथा पापसंकल्पी भिक्षु को बाहर निकाल दिया जाय। संघ मे प्रवेश करनें वाले भिक्षु को छूत रोग तथा ऋण-भार से मुक्त होना राजा की सेवा में न होना माता पिता की स्वीकृति होना तथा अवस्था का कम से-कम २० वर्ष होना आवश्यक था।

जैनाचार्यों ने विद्यार्थी की योग्यता के लिए उसका आचार्य कुल में रहना, उत्साही विद्या प्रेमी मधुर भाषी तथा शुभ कर्मी होना आवश्यक बतलाया है।[1] आज्ञा उल्लङ्घन करने वाले गुरुजनो के हृदय से दूर रहने वाले शत्रु की तरह विरोधी तथा विवेकहीन शिष्य को अविनीत कहा गया है। इसके विपरीत जो शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला है गुरु के निकट रहता (अन्तेवासी) है तथा अपने गुरु के इंगित मनोभाव तथा आकार का जानकार है वह विनीत' कहा गया है।

शिष्य के लिए वाचाल दुराचारी क्रोधी हँसी मजाक करने वाला कठोर वचन कहने वाला बिना पूछे उत्तर देने वाला पूछने पर असत्य उत्तर देने वाला गुरुजनो से वैर करने वाला नहीं होना चाहिए। उत्तराध्ययन मे शिष्य के लिए निम्न प्रकार का विधान बतलाया गया है— शिष्य को गुरुजनो की पीठ के पास अथवा आगे पीछे नही बठना चाहिए इतना पास भी न बैठना चाहिए जिससे अपने परो का उनके पैरो से स्पर्श हो शिष्य को शय्या पर लेटे लेटे तथा अपनी जगह पर बठे बैठे गुरु को प्रत्युत्तर न देना चाहिए उन्हें गुरुजनों के समक्ष पर पर पैर चढ़ाकर अथवा घुटने छाती से सटाकर तथा पर फैलाकर कभी नही बठना चाहिए। यदि आचाय शिष्य को बुलावे तो उसे कभी भी मौन न रहना चाहिए। ऐसी स्थिति मे मुमुक्षु तथा गुरु-कृपेच्छु शिष्य को तत्काल ही अपने गुरु के पास जाकर उपस्थित होना चाहिए। शिष्य को ऐसे आसन पर बैठना चाहिए जो गुरु के आसन से ऊँचा न हो और जो शब्द न करता हो। आचाय का कर्तव्य है कि ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र वचन और उनका भावाथ उसकी योग्यता के अनुसार समझाये।

उत्तराध्ययन मे गुरु तथा शिष्य के संबध पर भी प्रकाश डाला गया है—'जैसे अच्छा घोड़ा चलाने मे सारथी को आनन्द आता है वैसे चतुर साधक के लिए विद्या दान करने में गुरु को आनन्द प्राप्त होता है। जिस तरह अडियल टट्टू को चलाते-चलाते सारथी थक जाता है वैसे ही मूर्ख शिष्य को शिक्षण देते-देते गुरु भी हतोत्साह हो जाता है। पापदृष्टि वाला शिष्य कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतो और भर्त्सनाओ को वध तथा आक्रोश (गाली) मानता है। साधु पुरुष तो यह समझकर कि गुरू मुझको अपना पुत्र लघुभ्राता अथवा स्वजन के समान मानकर ऐसा कर रहे हैं गुरु की शिक्षा (दण्ड) को अपना कल्याणकारी मानता है। किन्तु पाप-दृष्टि वाला शिष्य उस दशा में अपने को दास मानकर दुखी होता है। यदि कदाचित् आचाय क्रुद्ध हो जाय तो शिष्य अपने प्रेम से उन्हें प्रसन्न करे, हाथ जोडकर उनकी विनय करे तथा उनको विश्वास दिलावे कि वह भविष्य मे वैसा अपराध कभी नहीं करेगा।

---

१ उत्तराध्ययन ११ १४।

२ वही १ २।

३ वही १ ४ ९ १३ १४ १७।

४ वही १ १८ २३।

शूद्रों का विद्याधिकार

वैदिक काल मे आर्येतर जातियो के आर्यभाषा और संस्कृति मे निष्णात होकर वैदिक मंत्रों की रचना करने का उल्लेख मिलता है। शूद्रो की वैदिक शिक्षा पर रोक प्रधानत स्मृति-काल में लगी। उनके लिए सदा से ही पुराणो के अध्ययन की सुविधा थी। आश्वलायन-गृह्यसूत्र मे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारो जातियो के समावर्तन संस्कार के विधान दिए गए हैं।[१]

बौद्ध संस्कृति मे भी ज्ञान के द्वारा व्यक्तित्व के विकास करने का मार्ग सबके लिए समान रूप से खोल दिया गया था। एक बार संघ मे प्रवेश पा जाने पर ज्ञान प्राप्त करने की दिशा में शूद्र जाति के कारण किसी प्रकार की बाधा नही होती थी। गौतम के जीवन काल मे शूद्र-वर्ग के असंख्य व्यक्ति उनके शिष्य बन चुके थे[२]। जातक काल मे ऐसे अनेक शूद्र और चाण्डाल हो चुके हैं जो उच्च कोटि के दार्शनिक तथा विचारक थे। सुत्त निपात के अनुसार मातङ्ग नामक चाण्डाल तो इतना बड़ा आचार्य हो गया था कि उसके यहाँ अध्ययन करने के लिए अनेक उच्च वर्ण के लोग आते थे।

जैन संस्कृति मे चाण्डालो तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना संभव था। उत्तराध्ययन (१२ १) मे हरिकेशबल नामक चाण्डाल की चर्चा आती है जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुणो से अलंकृत था। जैनशास्त्रों मे यह स्पष्ट कहा गया है कि वर्ण-व्यवस्था जन्मगत नही किन्तु कर्मगत है। कर्म से ब्राह्मण होता है कर्म से क्षत्रिय होता है कर्म से वैश्य होता है तथा कर्म से शूद्र होता है। इस प्रकार प्राचीन काल मे जैन दृष्टि से शूद्रो के विद्याध्ययन मे किसी भी प्रकार की कठिनाई नही थी।

अध्ययन के विषय

वैदिक शिक्षण के आदिकाल से ही ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्व प्रथम रहा है। वेद के अतिरिक्त वेदाङ्गो का भी महत्त्व भारतीय विद्यालयो मे सदैव रहा है। इनका अध्ययन और अध्यापन वैदिक काल मे वैज्ञानिक दृष्टि से होने लगा था। छान्दोग्य उपनिषद् (७ १ २) मे तत्कालीन अध्ययन के विषयो की एक सूची इस प्रकार मिलती है—चारो वेद इतिहास पुराण वेदो का वेद (व्याकरण) पित्र्य (श्राद्धयज्ञ) राशि (गणित) दैव (भौतिक विज्ञान) निधि (काल-ज्ञान) वाकोवाक्य (तर्क) एकायन (नीति) देवविद्या (शिल्प तथा कलायें)।

भगवतीसूत्र (२ १) मे अध्ययन के विषय निम्न प्रकार बतलाए गये हैं—छह वेद छह वेदाङ्ग तथा छह उपाङ्ग।

छह वेद इस प्रकार है—१ ऋग्वेद २ यजुर्वेद ३ सामवेद ४ अथर्ववेद ५ इतिहास (पुराण) तथा ६ निघण्टु।

छह वेदाङ्ग इस प्रकार हैं—१ संखाण (गणित) २ सिक्खाकप्प (स्वरशास्त्र) ३ वागरण (व्याकरण) ४ छंद ५ निरुक्त (शब्दशास्त्र) तथा ६ ज्योइस (ज्योतिष)। छह उपाङ्गो मे प्राय वेदाङ्गो में वर्णित विषयो का और अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन था।

---

१ आश्वलायन गृह्यसूत्र ३ । २ चुल्लवग्ग ९ १ ४ तथा महावग्ग ६ ३७ १।
३ सेतुजातक ३७७। ४ उत्तराध्ययन २५ ३३।

स्थानाङ्ग (३ ३ १८५) में भी ऋग्वेद यजुर्वेद तथा सामवेद का उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा के अनुसार वेद दो प्रकार के हैं—आर्यवेद तथा अनार्यवेद। आर्यवेदों की रचना भरत तथा अन्य आचार्यों ने की थी। इनमें तीर्थङ्करों के यशोगान तथा श्रमण एवं उपासकों के कर्तव्यों का वर्णन था। बाद में सुलसा याज्ञवल्क्य आदि ने अनार्यवेदों की रचना की।[1]

उत्तराध्ययन-टीका (३ पृष्ठ ५६ अ) में निम्न प्रकार १४ विद्यास्थान (अध्ययन के विषय) बताए गए हैं—४ वेद ६ वेदाङ्ग मिमांसा नाय (न्याय) पुराण तथा धम्मसत्थ (धर्मशास्त्र)।

अङ्गशास्त्र में ७२ कलाओं का वर्णन मिलता है। ये कलाएं निम्न प्रकार हैं—१ लेह (लेख) २ गणिय (गणित) ३ पोरेकव्व (काव्य निर्माण) ४ अज्जा (आर्याछन्द) ५ पहेलिया (प्रहेलिका) ६ मागधिया (मागधी भाषा) ७ गाहा (गाथा) गोइय (गीति) ९ सिलोय (श्लोक) १ रूव (मूर्तिनिर्माण-कला) ११ नट्ट (नृत्य) १२ गीय (गायन) १३ वाइय (वादित्र) १४ सरगय (सरगम) १५ पोक्खरगय (ढोल वादन) १६ समताल (ताल का ज्ञान) १७ दगमट्टिय (मृत्तिका-विज्ञान) १८ जूय (द्यूत) १९ जणवाय (एक विशेष प्रकार का द्यूत) २ पासय (अक्षद्यूत) २१ अट्ठावय (शतरञ्ज) २२ सुजखेड (कठपुतली विज्ञान) २३ वत्थ (भौरे का खेल) २४ नलिका खेड (पासो का खेल) २५ अन्नविहि (भोजन विज्ञान) २६ पाणविहि (पानक विज्ञान) २७ वत्थविहि (वस्त्र विज्ञान) २ विलेवणविहि (विलपन विज्ञान) २९ सयणविहि (शयन विज्ञान) ३ हिरण्णजुत्ति (चांदी के आभूषणो का विज्ञान) ३१ सुवण्णजुत्ति (सोने के आभूषणों का विज्ञान) ३२ चुण्णजुत्ति (चूर्ण विज्ञान) ३३ आभरण विहि (अ य आभरण विज्ञान) ३४ तरुणीपडिकम्म (युवती विज्ञान) ३५ पत्तच्छेज (पत्रो द्वारा आभूषणो के प्रकार बनाना) ३६ कड च्छेज (मस्तक को सजाने का विज्ञान) ३७ इत्थि लक्खण (स्त्री लक्षण) ३८ पुरिसलक्खण (पुरुष लक्षण) ३९ हयलक्खण (अश्व लक्षण) ४ गयलक्खण (गज-लक्षण) ४१ गो लक्खण (गो-लक्षण विज्ञान) ४३ कुक्कुडलक्खण (मुर्गी पालन) ४३ छत्तलक्खण (क्षत्रलक्षण विज्ञान) ४४ दण्डलक्खण (दण्डलक्षण विज्ञान) ४५ असिलक्खण (असिलक्षण विज्ञान ४६ मणिलक्खण (मणिलक्षण विज्ञान) ४७ काकिणी लक्खण (काकिणीरत्नलक्षण विज्ञान) ४ सउणरूय (पक्षियोकी बोलीका ज्ञान) ४९ ५ चार-पडिचार (ग्रहोके चलन तथा प्रतिचलन की विद्या) ५१ सुवण्णपाग (स्वर्ण बनाने की विद्या) ५२ हिरण्णपाग (चांदी बनाने की विद्या) ५३ स जीव (नकली धातुओं को असली धातु मे परिवर्तित करने की विद्या) ५४ निज्जीव (असली धातुओं को नकली धातुमें परिवर्तित करनेकी विद्या) ५५ वत्थुविज्जा (गृहनिर्माण विद्या) ५६–५७ नगर माण-खंधारमाण (नगर तथा स्कंधावारो को नापन की विद्या) ५ जुद्ध (युद्ध विज्ञान) ५९ निजुद्ध (मल्ल विज्ञान) ६ जुद्धातिजुद्ध (घोर युद्ध) ६१ दिट्ठिजुद्ध (दृष्टि-युद्ध) ६२ मुट्ठ जुद्ध (मुष्टियुद्ध) ६३ बाहुजुद्ध (बाहु-युद्ध) ६४ लयाजुद्ध (म लयुद्ध) ६५ ईसत्थ (तीर चलाने की विद्या) ६६ छरुप्पवाय (असिविज्ञान) ६७ धणुव्वेय (धनुर्वेद) ६८ बूह (व्यूह विज्ञान) ६९ पडिवूह (प्रतिव्यूह विज्ञान) ७ चक्कवूह (चक्रव्यूह विज्ञान) ७१ गरुलवूह (गरुडव्यूह विज्ञान) तथा ७२ सगडवूह (शकव्यूह विज्ञान)।

---

१ आवश्यकचूर्णि २१५

स्थानाङ्गसूत्र (९ ६७) मे नव प्रकार के पाप-श्रुतो का वर्णन इस प्रकार है—१ उप्पाय (अपशकुन-विज्ञान) २ निमित्त (शकुन विज्ञान) ३ मन्त (उच्च इन्द्रजाल विद्या) ४ आउक्खिय (नीच इन्द्रजाल विद्या) ५ तेगिच्छिय (चिकित्सा विज्ञान) ६ कला (कला-विज्ञान) ७ आवरण (गृहनिर्माण विज्ञान) ८ अण्णाण (साहित्य विज्ञान) ९ मिच्छापवयण (असत्य शास्त्र) [१]

आचार्य

ऋग्वेदिक आचार्य जिसके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र हैं तत्कालीन ज्ञान और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज मे सर्वोच्च व्यक्ति थे। आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता था। वह स्वय ब्रह्मचारी होता था और अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के बल पर असख्य विद्यार्थियो को आकर्षित कर लेता था।

बौद्ध शिक्षण मे गौतम के व्यक्तित्व का सर्वोपरि महिमा थी। गौतम ने जो निजी आदर्श उपस्थित किया था वह बौद्ध शिक्षण के परवर्ती आचार्यो के लिए मार्ग प्रदर्शक बनकर रहा। गौतम में अदम्य उत्साह था। उनमे कर्मण्यता की कल्पनातीत शक्ति थी और नई नई विषम परिस्थितियो को सुलझाने के लिए प्रत्युत्पन्न बुद्धि और समाधान की क्षमता थी। सारे भारत के भिक्षु गौतम के निकट अपने सदेहो को मिटाने के लिए आते थे।

जैन शिक्षण के आचार्यों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्करो की छाप रही। वे अपना जीवन और शक्ति मानवता को सत्पथ दिखाने के प्रयत्न मे ही लगा देते थे।

रायपसेणिय मे तीन प्रकार के आचार्यों का वर्णन है—१ कलाचरिय (कलाचार्य) २ सिप्पाचरिय (शिल्पाचार्य) ३ धम्माचरिय (धर्माचार्य)।

आचार्य को ज्ञान की दृष्टि से पूर्ण योग्य होना आवश्यक था। आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की जैन सस्कृति मे जो रूपरेखा बनी वह इस प्रकार थी— वह सत्य को नही छिपाता था और न उसका प्रतिवाद करता था। वह अभिमान नही करता था और न यश की कामना करता था। वह कभी भी अन्य धर्मों के आचार्यों की निन्दा नही करता था। सत्य भी कठोर होने पर उसके लिए त्याज्य था। वह सदैव सद्विचारो का प्रतिपादन करता था। शिष्य को डाट डपट कर या अपशब्द कहकर वह काम नहीं लेता था। वह धर्म के रहस्य को पूर्णरूप से जानता था। उसका जीवन तपोमय था। उसकी व्याख्यान शैली शुद्ध थी। वह कुशल विद्वान् और सभी धर्मों का पण्डित होता था।

शिक्षण विधि

वैदिक काल मे प्रारम्भ से ही सूत्रो को कण्ठस्थ करने की रीति थी। उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ हाथ की गति से भी की जाती थी। वैदिक मंत्रो को कण्ठस्थ करने के लिए विविध प्रकार के पाठ होते थे जैसे—संहितापाठ पदपाठ क्रमपाठ जटापाठ आदि।

---

१ नायाधम्मकहाओ १ २ (पृ २१)। २ अथर्ववेद ११ ५ ३।
३ वही ११ ५ १६। ४ महावग्ग १३ ७।
५ आचाराङ्ग १ ६ ५ २ ४। ६ सूत्रकृताङ्ग १ १४ १९ २७।

बौद्ध शिक्षण-पद्धति का आदर्श स्वयं गौतम बुद्ध ने प्रतिष्ठित किया था। गौतम ने कहा था—[1] जिस प्रकार समुद्र की गहराई शनैः शनैः बढ़ती है, सहसा नहीं हे भिक्षुओं उसी प्रकार धर्म की शिक्षा शनैः शनैः होनी चाहिए। पद-पद चलकर ही अर्हत् बना जा सकता है।[2] गौतम के शिक्षण में उपमा दृष्टान्त उदाहरण और कथा का समावेश होता था।

जैन शिक्षण-पद्धति का श्रेय महावीर को है। महावीर ने कहा था कि— जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते हैं वैसे ही शिष्यों को नित्य प्रति दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए। यदि शिष्य सक्षेप मे कुछ समझ नही पाता तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था। आचार्य अर्थ का अनर्थ नही करते थे। वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को यथावत् शिष्य को ग्रहण कराने में अपनी सफलता मानते थे। वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें नही करते थे।

परवर्ती युग मे शास्त्रो के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ। विद्यार्थी शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रो का ठीक ठीक अर्थ समझ लेता था। विद्यार्थी बार-बार आवृत्ति करके अपना पाठ कण्ठस्थ कर लेता था। फिर वह पढे हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था।[4] प्रश्न पूछने से प ले विद्यार्थी आचार्य को हाथ जोड लेता था।

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शली के ५ अग थे—१ वाचना (पढना) २ पृच्छना (पूछना) ३ अनुप्रेक्षा (पढे हुए विषय का मनन करना) ४ आम्नाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा ५ उपदेश।

अवकाश

अवकाश के समय आश्रम बन्द हो जाते थे। अकाल मेघो के आ जाने पर अत्यधिक गर्जन बिजली का चमकना अधिक वर्षा कोहरा धूल के तूफान तथा चन्द्र-सूर्य ग्रहण के समय प्राय अवकाश हो जाता था। दो सेनाओ अथवा दो नगरो मे आपस मे युद्ध द्वारा नगर की शान्ति-भंग हो जाने पर मल्ल-युद्ध के समय अथवा नगर के सम्मान्य नेता की मृत्यु हो जाने पर अध्ययन बन्द कर दिया जाता था। कभी बिल्ली द्वारा चूहे का मारा जाना रास्ते मे अण्डे का मिल जाना जिस जगह विद्यालय है उस मुहल्ले मे बच्चे का जन्म आदि तुच्छ कारणो से भी विद्याध्ययन का काय बन्द कर दिया जाता था।

अनुशासन

वदिक-काल मे आचाय विद्वानो का प्रथम दिन ही आदेश देता था कि—अपना काम करो कर्मण्यता ही शक्ति है अग्नि मे समिधा डालो अपने मन की अग्नि के समान ओजस्विता से समिद्ध करो सोओ मत।

जैन शिक्षण मे भिक्षुओ के लिए शारीरिक कष्ट को अतिशय महत्त्व दिया गया है। व्रत भंग के प्रसंग पर साधु को मरना ही श्रेयस्कर बताया गया है। जन शिक्षण में शरीर की बाह्य शुद्धि को केवल व्यर्थ ही नहीं अपितु अनर्थ भी बताया गया है। शरीर का संस्कार करने वाले श्रमण शरार

१ चुल्लवग्ग ६ १ ४। २ आचारांग १ ६ ३ ३। ३ सूत्रकृताग १ १४ २४ २७।
४ उत्तराध्ययन २६ १८ तथा १ १३। ५ वही १ २२ ६ स्थानांग ४६५।
७ व्यवहार-भाष्य ७ २८१ ३१६। ८ शतपथ ब्राह्मण ११ ५ ४ ५।

बकुश (चरित्र भ्रष्ट) कहलाते थे।[1] परवर्ती युग मे विद्यार्थियो के लिए आचार्य की आज्ञा का पालन करना डाट पड़ने पर भी चुपचाप सह लेना भिक्षा मे स्वादिष्ट भोजन न लेना आदि नियम बनाये गए। विद्यार्थी सूर्योदय के पहले जागकर अपनी वस्तुओं का निरीक्षण और गुरुजनों का अभिवादन करते थे। दिन के तीसरे पहर मे वे भिक्षा मांगते थे रात्रि के तीसरे पहर मे वे सोते थे। विद्यार्थी भूल से किए गए अपराधो का प्रायश्चित्त भी करते थे।

योग्य छात्र वही था जो अपने आचार्य के उपदेशो पर पूर्ण ध्यान दे प्रश्न करे अथ समझे तथा तदनुसार आचरण करने का प्रयत्न करे। योग्य छात्र कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लङ्घन नही करते थे गुरु से असद् व्यवहार नही करते थे और झूठ नही बोलते थ। अयोग्य विद्यार्थी भी हुआ करते थे जो गुरु से सदव हस्त ताडन तथा पाद-ताडन (खंडया चपेडा) प्राप्त किया करते थ। वे वेत्र-ताडन भी प्राप्त करते थे तथा बडे कठोर शब्दो से सम्बोधित किये जाते थ। अयोग्य विद्यार्थियो की तुलना दुष्ट बैलो से की गई है। वे गुरु की आज्ञा का पालन नही करते थे। कभी-कभी गुरु ऐसे छात्रो से थककर उन्हे छोड भी दिया करते थे। छात्रो की तुलना पवत घडा चलनी छन्ना राजहस भैंस मच्छर जोक बिल्ली गाय ढोल आदि पदार्थो से की गई है जो उसकी योग्यता और अयोग्यता की ओर सकेत करते है।

जैन संस्कृति के विद्यार्थी ऊन रेशम क्षौम सन ताडपत्र आदि के बने वस्त्रो के लिए गृहस्थ से याचना करते थे। वे चमडे के वस्त्र या बहुमूल्य रत्न या स्वर्ण जटित अलंकृत वस्त्रो को ग्रहण नही करते थे। हृष्ट पुष्ट विद्यार्थी केवल एक और भिक्षुणियाँ चार वस्त्र पहिनती थी।

समावर्तन

वदिक काल मे अध्ययन समाप्त हो जाने पर कुछ विद्यार्थी आचार्य की अनुमति से घर लौट जाते थे। आश्रम छोडते समय आचार्य विद्यार्थी को कुछ ऐसे उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन की प्रगति मे सहायक होते थे। (तत्तिरीयोपनिषद् १ ११)

जनागम मे भी समावर्तन संस्कार का वर्णन मिलता है। छात्र जब अध्ययन समाप्त करके घर वापस आता था तब अत्यन्त समारोह के साथ उसे ग्रहण किया जाता था। रक्षित जब पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त कर घर वापस आया तो उसका राजकीय सम्मान किया गया। सारा नगर पताकाओ तथा वन्दनवारो से सुसज्जित किया गया। रक्षित को हाथी पर बिठाया गया तथा लोगो ने उसका सत्कार किया। उसकी योग्यता पर प्रसन्न होकर लोगो ने उसे दास पशु स्वर्ण आदि द्रव्य दिया।

विद्यालय तथा विद्या के केन्द्र

वदिक काल मे प्राय प्रत्येक गृहस्थ विद्वान् का घर विद्यालय होता था क्योंकि गृहस्थ के ५ यज्ञो मे ब्रह्मयज्ञ की पूर्ति के लिए गृहस्थ को अध्यापन-कार्य करना आवश्यक था। जिन वनो

१ स्थानाग ४४५ तथा १५८। २ उत्तराध्ययन २६।
३ आवश्यकनियुक्ति। २२। ४ उत्तराध्ययन। १ १३ (टिप्पणी)।
५ वही। २७ ८ १३ १६। ६ आवश्यकनिर्युक्ति। १३९ आवश्यकचूर्णि १२१४।
७ आचाराङ्ग। २ ५ १ १। ८ उत्तराध्ययन टीका २ पृ २२
९ छान्दोग्य उपनिषद् ८ १५ १ तथा ४ ९ १ तथा २ २३ १। १ मनुस्मृति ३ ७ ।

पर्वतों और उपवन प्रदेशों को लोगों ने स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिए उपयोगी माना वे स्थान आचार्यों ने अपने आश्रम और विद्यालयों के उपयोग के लिए चुने। महाभारत में कण्व, व्यास भरद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमों के वर्णन मिलते है।[1] रामायणकालीन चित्रकूट में वाल्मीकि का आश्रम था।

बौद्ध शिक्षण विहारों में होता था। ये विहार नगरों के समीप ऊँचे भवनों के रूप में बनते थे। तत्कालीन अनेक राजाओं और धनी लोगों ने गौतम बुद्ध के समय से ही विहारों के बनवाने का उत्तरदायित्व लिया। ऐसी परिस्थिति में विहारों का राजप्रसाद के समकक्ष होना स्वाभाविक था। आरंभ में विहार सादे होते थे पर धीरे धीरे वे सुसंस्कृत बनने लगे।

श्रावस्ती के जेतवन विहार का निर्माण अनाथपिंडक ने गौतम बुद्ध के जीवनकाल में कराया था। उसमें १२ भवन और अनेक शालाएँ थी। उपदेश देने के लिए समाधि लगाने के लिए तथा भोजन करने के लिए पृथक पृथक शालाए थी। साथ ही स्नानागार औषधालय पुस्तकालय अध्ययनकक्ष आदि बने हुए थे। पुस्तकालय में बौद्धधर्म की पुस्तको के अतिरिक्त अन्य विचार धाराओं के ग्रन्थो का भी संग्रह किया गया था। उसमें अनेक जलाशय भी बनाये गये थे।

वलभी में बौद्धधर्म के महायान तथा हीनयान सम्प्रदाय वाली पाठशालायें थी। हीनयान वालो का बहुमत था। वलभी शिक्षाकेन्द्र के रूप में उस समय ख्याति की चरम सीमा पर था। इत्सिंग ने लिखा है कि नालन्दा की भाँति वलभी में भी विश्वविद्यालय था। प्राय सभी विषयों की शिक्षा (शब्द से आरम्भ होकर अभिधर्म तक की) दी जाती थी। वहाँ के विद्यार्थी बाहर से आये हुए छात्रों को भी पढाने की क्षमता रखते थे। इत्सिंग ने आगे लिखा है कि भारतवर्ष में पूर्व में नालन्दा और पश्चिम में वलभी चीन के चिन-मा शिह् चू तथा चाऊ लि से किसी प्रकार कम नही थे।

वलभी नालन्दा की तुलना में किसी प्रकार कम नही था। नालन्दा जहाँ महायान का केन्द्र था वहाँ वलभी मे हीनयान की प्रमुखता थी। वलभी में प्रवेश पाना भी सरल कार्य नहीं था। दस में से मात्र दो-तीन छात्र ही वहां प्रवेश पा सकते थे। शब्द न्याय अभिधर्म शिल्प चिकित्सा जैसे विषयो की वहा शिक्षा दी जाती थी। वेद तथा उपनिषद् का भी वहा अध्ययन होता था। ह्वेनसांग ने लिखा है कि वलभी में विहार तथा ६ भिक्षु थे। इससे प्रतीत होता है कि वलभी विश्वविद्यालय में छात्रों की संख्या भी पर्याप्त थी।

जैन संस्कृति की आम्नाय परंपरा तीर्थङ्करों से आरम्भ होती है। तीर्थङ्कर प्राय अनगार होते थे। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का अनगार होना प्रसिद्ध है। ऐसे तीर्थङ्करों की शाला का भवनों मे होना संभव न था। उनके शिष्य-संघ आचार्यों के साथ ही देश-देशान्तर में पर्यटन करते थे। महावीर के जो ११ गणधर (शिष्य) थे वे सब आचार्य थे। उनमें इन्द्रभूति अग्निभूति वायुभूति आर्यव्यक्त तथा सुधर्मा के प्रत्येक के ५ शिष्य थे मण्डिक तथा मौर्यपुत्र के प्रत्येक के ३५ शिष्य थे और अकम्पिक अचलभ्राता मेतार्य तथा प्रभास के प्रत्येक के ३ शिष्य थे।

---

१ आदि पर्व ७ । २ रामायण २ ५६ १६ ।

३ वाटस ह्वेन सांग—भाग १ पृ ३८५–३८६

४ भारती (भवन की पत्रिका) लेख वलभी ले० ज ह दवे पृ० ६७ ।

वे भ्रमण करते हुए संयोगवश महावीर से मिले और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपने शिष्यों सहित उनके संघ में सम्मिलित हो गये।[१]

शनै शनै जन मुनियो तथा आचार्यों के लिए भी गुफा मंदिर तथा-तीर्थ क्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे। इसके बाद राजधानियाँ तीर्थ-स्थान आश्रम तथा मन्दिर शिक्षा के केन्द्र बने। राजा तथा जमीदार लोग विद्या के पोषक तथा सरक्षक थे। समृद्ध राज्यो की अनेक राजधानिया बडे-बडे विद्या-केन्द्रो के रूप मे परिणत हुई। जैनागमो मे वर्णन है कि बनारस विद्या का केन्द्र था। शंखपुर का राजकुमार अगडदत्त वहाँ विद्याध्ययन के लिए गया था। वह अपने आचार्य के आश्रम में रहा और अपना अध्ययन समाप्त कर लौटा। सावत्थी (श्रावस्ती) एक अन्य विद्या का केन्द्र थी। पाटलिपत्र भी विद्या का केन्द्र था। रक्खिय जब अपने नगर दश र मे अपना अध्ययन न कर सका तो वह उच्च शिक्षा के लिए पाटलिपुत्र गया। प्रति ठान दक्षिण मे विद्या का केन्द्र था।

साधुओ के निवास स्थान (वसति) तथा उपाश्रयो मे भ विद्याध्ययन हुआ करता था। ऐसे स्थानो पर वे ही साधु अध्यापन के अधिकारी थे जि होन उपाध्याय के समीप रहकर आगम का पूर्णरूप से अभ्यास कर लिया हो।

उपर्युक्त रूप से विचार करने पर स्पष्टत ऐसा प्रतीत होता है[२] कि आज से सुदूर प्राचीन काल मे भारत मे जैन धम के अध्ययन अध्यापन का एक सुव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली वतमान था।

१ कल्पसूत्र लिस्ट आफ स्थविराज तथा श्रमण भगवान् महावीर पृ २११-२२।
2 Life in Ancient India by J C Jain पृ १७३-१७४

कविवर बनारसीदास और रस-परम्परा

श्री जमनालाल जैन

[सुकवि वह होता है जो अपनी रचना में परमार्थ रस का वर्णन करता है। हृदय मे कल्पित बात नहीं लाता और असत्य मृषावाद से प्रीति नहीं करता।]

कविवर बनारसीदासजी १७ वी शताब्दी के प्रतिभाशाली कवि थे उनकी पद्यबद्ध आत्म कथा (अर्धकथानक) से तो अब हिन्दी जगत् लगभग परिचित हो ही गया है। यह अर्ध-कथानक हिन्दी-साहित्य मे पहला आत्म-कथात्मक रचना है जो भाषा भाव और शैली की दृष्टि से अद्भुत है। बनारसीदासजी साहित्य मे परमार्थ अथवा आत्म-तत्त्व के पोषक थे। लोकरंजनात्मक साहित्य को उन्होने अपना विषय नही बनाया। वे तत्त्व चिन्तक थे और साहित्य को आत्मोन्नति मे सहायक मानते थे। उनका सम्पूर्ण वाङ्मय आत्मलक्षी है। उनकी दृष्टि मे वह ज्ञान मिथ्या ही है जो आत्म-दर्शन से विमुख करे या केवल लौकिक हो। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ समयसार नाटक में वे सुकवि की प्रशसा मे कहते है कि सुकवि वह होता है जो अपनी रचना मे परमार्थ रस का वर्णन करता है हृदय मे कल्पित बात नही लाता और असत्य मृषावाद से प्रीति नहीं करता। कुकवि के लिये वे कहते है—

ख्याति लाभ पूजा मन आनै
परमारथ-पथ भेद न जानै।
बानी जीव एक करि बूझै
जाको चित जड ग्रन्थ न सूझै॥

जीवन के उषाकाल मे यानी चौदह वर्ष की उम्र मे उन्होने एक हजार दोहा चौपाइयो मे शृङ्गार-काव्य की रचना की थी लेकिन उनकी मूल आध्यात्मिक प्रेरणा ने इसका समर्थन नहीं किया सो गोमती के प्रवाह मे बहा दी। वे मानते थे कि शब्द वस्तुत ब्रह्म है यह अनादि है उसकी शक्ति असीम है उसका दुरुपयोग नही होना चाहिए। शब्दो के साथ खिलवाड को वे अपराध मानते थे।

साहित्य के रसों के बारे में भी उनके अपने विचार थे। इस लेख मे बनारसीदासजी की मान्यता को ध्यान में रखकर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा।

रस की व्यापकता

रस का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड रस से ओत-प्रोत है। संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें रस न हो। मानव-जीवन का एक-एक कण और एक-एक क्षण रसमय

है पेड़ पौधे भी माँ वसुधा से रस ग्रहण करते और सरस बनकर हमारे मन प्राण को संपोषण देते हैं। मनुष्य अपनी इन्द्रियों से और मन से प्रतिक्षण रस ग्रहण करता रहता है और इसी कारण वह चैतन्य रहता है। किसी भी वस्तु और विषय के साथ जब मनुष्य तादात्म्य स्थापित करता है उसमें लीन होता है तो उसके भीतर एक प्रकार का रस निर्माण होता है जो आनन्द देता है। हम किसी से प्यार कर या घृणा किसी पर करुणा करें या क्रोध किसी से डर या प्रसन्न हो सब अवस्थाओं मे हमारा मानस एक प्रकार की अनुभूति करता है। यह अनुभूति ही रस है। इस रसमयता की अनुभति की अभिव्यक्ति शब्दो मे बहुत ही कम हो पाती है। मिश्री की मिठास की अनुभति स्वाद मे है शब्दो मे नही।

अनुभूति और रस

हम अपनी पाचो इन्द्रियों तथा मन के द्वारा निरन्तर सक्रिय रहते हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श करते हैं रसना द्वारा स्वाद लेते है घ्राण द्वारा गंध अनुभव करते हैं आँखो द्वारा देखते हैं और कानो द्वारा सुनते हैं मन इन सब इन्द्रियो का सरदार है। उसकी प्रेरणा से ही ये इन्द्रियाँ दौडती रहती हैं पर मन की अपनी भी क्रिया शीलता होती है। वह बिना इन्द्रियो की मदद के भी सब कुछ करता रहता है। जीभ तो वस्तु को पाकर ही स्वाद की सूचना देगा पर मन तो बिना देखे ही उसकी अनुभूति से सुखी दुखी हो जाता है। असल मे इन्द्रियाँ तो मनकी चाकर है वे तो सूचना भर देता हैं। अनुभूति तो मन ही करता है और उसकी प्रतिक्रिया इन्द्रिया पर प्रकट हो जाता है।

इसलिये कहा जा सकता है कि रस और अनुभूति एक ही चीज है। दोनो को अलग करके नही देखा जा सकता। बनारसी दासजी ने ठीक ही कहा है

वस्तु विचारत ध्यावत मन पावै विश्राम।
रस स्वादन सुख ऊपजै अनभौ याको नाम।।

× × ×

अनुभव चिन्तामनि रतन अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोख को अनुभव मोख सरूप।।

इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है कि अनुभव स्वयं मोक्ष स्वरूप है। मोक्ष यानी सुख अखण्ड सुख। उनकी दृष्टि मे अनुभौ समान न धरम कोऊ और है।

अनुभव के अनन्त प्रकार

अनुभव या अनुभूति एक-सी नही होती। अनुभूति केवल सुखात्मक ही नही होती दुखात्मक भी होती है। एक ही मन में एक ही क्षण मे एक ही वस्तु के प्रति अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती रहती हैं। इसलिए निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि अनुभूतियाँ कितने प्रकार की होती हैं। फिर भी हम मोटे तौर पर अनुभूति के दो भेद कर सकते हैं —इन्द्रियानुभूति और आत्मानुभूति। इनको परोक्षानुभूति और प्रत्यक्षानुभूति भी कह सकते हैं।

अनेक तत्त्व-चिन्तकों की मान्यता है कि हम अपनी इन्द्रियो से जो कुछ अनुभव करते हैं वह प्रत्यक्षानुभूति है और जो अनुभूति इन्द्रियो से नही होती वह परोक्षानुभूति है। स्थूल अर्थात लौकिक

दृष्टि से यह ठीक ही है लेकिन गहरा मे सोचने पर प्रतीत होगा कि जिसे हम सामान्यत प्रत्यक्षानुभूति कहते हैं वह इन्द्रियाश्रित होती है। इन्द्रियो का दर्शन या ज्ञान एक तो स्थूल होता है फिर उसकी शक्ति भी सीमित होती है। इन्द्रियानुभूति विविध प्रकार के भावों और परिस्थितियों पर अवलंबित होती है। अगर हम किसी इन्द्रिय मे काम लेना बन्द कर दें या कोई इन्द्रिय हो ही नहीं तो हमारी अनुभूति आत्मशक्ति के अभाव में कुंठित हो जाती है इसीलिए इन्द्रियानुभूति वास्तव में परोक्षानुभूति है—परावलम्बी है। शुद्ध अनुभूति—वास्तविक अनुभूति तो आत्मानुभूति ही है जो किसी भी इन्द्रिय पर अवलम्बित नहीं होती। इन्द्रियो द्वारा किसी वस्तु के समस्त गुणों को एक साथ ग्रहण नहीं किया जा सकता जब कि आत्मा द्वारा वस्तु या विषय को एक साथ ग्रहण करने में कोई बाधा नही आती। यह दूसरी बात है कि आत्मा द्वारा अनुभूति करना सरल और सम्भव है या नही। आत्मा जितनी जितनी राग द्वेष से ऊपर उठेगी उतनी उतनी शुद्ध होगी और उतना ही उसका कार्य इन्द्रिय निरपेक्ष होगा। इन्द्रियजन्य ज्ञान और अनुभूति आत्मज्ञान या आत्मानुभूति मे सहायक होती है सही क्योंकि देह और आत्मा का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित हैं। यों भी कह सकते हैं कि इन्द्रियो द्वारा जो ज्ञान और दर्शन होता है उसकी रसानुभूति आत्मा द्वारा होती है। दोनो एक दूसरे के पोषक हैं किन्तु आत्मशक्ति इन्द्रिय शक्ति से प्रबल और भिन्न है इसमे सन्देह नही।

दृश्यानुभूति और शब्दानुभूति

दृश्य देखकर और शब्द सुनकर जो कुछ अनुभूति होती है वह दृश्यानुभूति और शब्दानुभूति है। यह इन्द्रियानुभूति ही है। इसी को काव्यानुभूति कह सकते हैं। घर गृहस्थी और कारोबार सम्बन्धी अनुभूतियो मे काव्यानुभूति भिन्न होती है। काव्य-साहित्य को पढकर सुनकर या नाटक आदि देखकर जो अनुभूति होती है वही असल मे साहित्य का रस है। इसे भावानुभूति भी कह सकते हैं। यह अनुभूति परिष्कृत और संस्कृत होती है क्योंकि व्यवहार क्षेत्र मे तो मन सुखात्मक भावो मे रमता है और दुखात्मक भावो से दूर भागता है। लेकिन काव्यानुभूति या रसानुभूति मे सुखात्मक या दुखात्मक भाव मे मन समान रूपसे रमता है और एक प्रकार का रस पैदा होता है। साहित्य का दुख भी प्रिय लगता उससे मन तादात्म्य स्थापित कर लेता है। पठन श्रवण अथवा अवलोकन मे तादात्म्य स्थिति ही रस का स्रोत है।

काव्य की आत्मा : रस :

जिस कृति के अवलोकन श्रवण या पठन से मन रसानुभव नही करता उसमें लीन नही होता उस कृति को साहित्य नही कहा जाता। इसीलिये कहा गया है कि काव्य की आत्मा रस है। रस विहीन काव्य ठूंठ जैसा ही होता है। किसी शोकाकुल व्यक्ति को देखकर उसके प्रति सहानुभूति पैदा हो सकती है लेकिन काव्य मे राम को सीता के वियोग मे शोकाकुल देखकर जो भाव जाग्रत होता है जो रस पैदा होता है लेखक और राम के प्रति जो एकात्मता स्थापित होती है, वह अलग ही चीज है। उसका वर्णन नहीं हो सकता। यही काव्य की आत्मा है।

रस के भेद

भावों के आधार पर प्राचीन आचार्यों ने रस के नौ भेद किये हैं। कुछ विद्वानों ने नौ से आगे बढ़कर वात्सल्य को भी दसवां रस माना है ये नौ या दस रस नौ-दस स्थायी भावों के

आधार पर माने गये हैं। वास्तव मे देखा जाय तो मानव-मन भावो का सागर है। उसमे प्रतिक्षण इतने भाव उठते हैं कि भावो को संख्या मे बाँधना लगभग असम्भव है। एक समय में एक ही भाव की प्रधानता रहती हो सो भी नही। परस्पर विरोधी भाव भी एक-साथ मन मे उठते है। जैसे मधु की प्रथम बूँद के रस मे और पाँचवी बूँद के रस मे फर्क पड जाता है वैसे ही साहित्य रस के ग्रहण में भी मन की स्थिति उत्कंठा से उदासीनता मे परिवर्तित हो सकती है फिर भी रस के आधार स्वरूप जिन नौ भावो का माना गया है। वे साहित्य शास्त्र की दृष्टि से बडे उपयोगी हैं।

भाव स्थायी या अस्थिर ?

ये सारे भाव वस्तुत राग द्वेष-मोह जन्य ही होत है। रति हास विस्मय उत्साह क्रोध जुगुप्सा भय शोक और निर्वद—ये नौ भाव है। इन भावो का सीधा सम्बध मन और इंद्रियो से है और सर्वथा लौकिक हैं। हमारी जो इंद्रिय जितनी मंद या कमजोर होगी उतनी ही कम अनुभूति हम कर पायेंगे। इसीलिये इनकी स्थिरता संदिग्ध हो जाती है। आचार्यों ने इन्हे स्थाया भाव कहा है लेकिन ये सब के सब सागर की लहरो की तरह बनते मिटते र ते है किसी काव्य ग्रन्थ नाटक या उपन्यास को पढ़ते समय कभी हम करुणा मे विह्वल हो उठते हैं कभी क्रोध के कारण हमारी भव तन जाती हैं कभी हमारा मुखडा विषण्ण हो जाता है कभी उत्साह मे हमारा रक्त तेजी से दौडने लगता है। यहाँ तक कि शरीर तक फडकने लगता है। कभी हम इतने अधीर हो जाते हैं कि लेटे-लेटे उठ बैठते हैं और कभी किताब पटक कर मन का विश्राम देने लगते है। इसका अर्थ य हुआ कि जिन भावो को साहित्य मे स्थाया कहा जाता है वे अपने मे स्थिर नही है और वे नने रूपो में व्यक्त होते हैं कि उनकी गणना नही हो सकती।

इस दृष्टि से राग द्वेष मोह से अतीत निरपेक्ष ज्ञान दानुभति हा वास्तविक रसानुभति होती है क्योंकि यही आत्मीय होती है। आत्मा का जा सहज सुख रस मिलता है वह किसी भी प्रकार के दबाव प्रतिक्रिया अकुलाहट या आकर्षण से नही होता। काव्य की आत्मा रस अवश्य है किन्तु वह रस विविध स्वादो वाला हाता है—कभी कटु कभी तिक्त कभी कसला कभी खारा। यह काव्य इन्द्रियो और मन को गुदगुदाता है प्रभावित भी करता है लेकिन शांति तो कदापि नही दे सकता। इसीलिय प्रश्न उठता है कि वह रस कौन-सा है जो खट्टे मीठे स्वादो से परे अत्यंत शुद्ध है। वह होगा आत्मरस परमार्थरस। आत्मा के काव्य मे आत्मा के सगीत मे ही वह उपलब्ध हो सकता है। आत्मानुभूति मे रस विरस का विषमता मिट जाता है। शुद्ध ज्ञान ही स्थायी हो सकता है।

स्थायी भाव और नोकषाय

स्थायी भाव नौ हैं—रति हास विस्मय उत्साह क्रोध जुगुप्सा भय शोक और निर्वद। जैनदर्शन में मानसिक भावों की दृष्टि से नोकषायो का विधान है। ये नोकषाय भी नौ ही हैं—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसकवेद। स्थायी भावों और नोकषायो मे हास्य रति शोक भय जुगुप्सा तो समान हैं। लेकिन शेष मे अन्तर है।

जैनो ने क्रोध विस्मय और उत्साह को नोकषाय नहीं माना है। क्रोध भय का ही एक रूप है और विस्मय और उत्साह भो निकटवर्ती ही है। उत्साह और विस्मय ऐसे भाव हैं जो मन पर

का नहीं जाते । जैनाचार्यों ने उन्हीं भावों को महत्त्व दिया जो आत्मा को कसते हों । क्रोध, उत्साह विस्मय तात्कालिक भाव होते हैं। निर्वेद स्थायीभाव की जगह स्त्री पुरुष-नपुंसक वेदो (भावों) का संयोजन, मनोविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । निर्वेद स्थिति सगुण-साकार मानव में तभी सम्भव होती है जब वह स्त्री-पुरुष के द्वंद्व से मुक्त होकर शुद्ध मानवात्मा रह जाता है । साहित्य मे तो स्त्री पुरुष-नपुसक भावों में मन उतरता-चढ़ता रहता ही है और इन्हीं तीनो भावों का विस्तारपूर्वक रसपूरक वर्णन होता है । यो भी जो साहित्यानुरागी नहीं हैं साधारण लोग हैं वे अपने नित्य जीवन मे किसी-न-किसी भाव में रहते हैं पहुँचते हैं । अभिनयों और नृत्य-समारोहों में तो प्रत्यक्ष ही ऐसा होता है । नोकषायो की परिगणना मोहनीय कर्म में की गयी है जिनसे मुक्त हुआ जा सकता है और होना चाहिये । इसका मतलब यही है कि इन भावो से ऊपर उठे बिना आत्म-सुख उपलब्ध नही हो सकता । असल मे चाहे साहित्य के स्थायी भाव हो या दर्शन शास्त्र के नोकषाय भाव आ मोक्षगति मे बाधक होते है—आत्मा को भरमाते हैं ।

मूल रस ?

मूल रस या रसराज के सम्बन्ध मे विद्वानो में मतभेद है । कोई शृङ्गार को मूल रस मानते हैं कोई अहंकार को कोई अद्भुत रस को मानते है । भवभूति ने करुण रस को ही एकमेव माना है । कविवर बनारसीदासने शान्त रस को रसनिको नायक कहा है । इन सब मतमतान्तरो को देखते हुये कहना कठिन है कि किस रस को मूल माना जाय । किसी एक रस को प्रमुख या मूल मानकर सिद्ध किया जा सकता है कि बाकी के समस्त रस उसके अनुगामी हैं या उसी से उद्भूत होते हैं अथवा उसी मे गर्भित हैं । मूल रस या रसराज वस्तुत उसीको कहना उपयुक्त होगा जो आत्मानुभूति को उज्ज्वल बनाने मे जीवन को सहज आनन्दमय स्थिति मे पहुचा दे और किसी प्रकार की अकुलाहट न हो । ऐसा रस एक शान्त ही हो सकता है जिसकी अनुभूति मे समरसता जागती है । लालसा आकाक्षा शून्य हो जाती है और जिसमे आवेश उत्तेजना आमितता आदि नहीं होती । यही निजानन्द रसलीन स्थिति है ।

बनारसीदासजी के स्थायी भाव

बनारसीदासजी ने नव रसा के स्थायी भावो को दो दृष्टियो से व्यक्त किया है। एक साहित्य की दृष्टि से दूसरे आध्यात्मिक दृष्टि से । दो छन्दो मे उन्होने अपनी बात कही है —

सोभा मे सिंगार बसै वीर पुरुषारथ मे कोमल हिए मे करुण रस बखानिये ।
आनन्दमें हास्य रुंडमुंडमे विराजै रुद्र बीभत्स तहाँ जहाँ गिलानि मन आनिये ॥
चिन्तामे भयानक अथाहता मे अद्भुत माया की अरुचितामें सांत रस मानिये ।
एई नवरस भवरूप एई भावरूप इनको विलेछिन सद्दिष्टो जागें जानिये ॥

गुनविचार सिंगार वीर उद्यम उदार रुख ।
करुना समरस रीति हास हिरदै उछाय सुख ॥
अष्टकरम-दल-मलन रुद्र वरतै तिहि थानक ।
तन विलेछ बीभच्छ दुंद मुख दसा भयानक ॥
अद्भुत अनन्तबल चिंतवन सांत सहज वैराग ध्रुव ।
नवरस विलास परगास तब जब सुबोध घट परगट हुआ ॥

प्राचीन परम्परा तथा बनारसीदासजी के अनुसार स्थायी भावों का तख्ता इस प्रकार बनता है—

रस	परम्परागत स्थायी भाव	बनारसीदासजी क स्थायी भाव	
		भवरूप या साहित्य रूप	भावरूप या आध्यात्मिक
१ शृंगार	रति	शोभा	गुण विचार
२ हास्य	हास	आनन्द	उत्साह-सुख
३ अद्भुत	विस्मय	अथाहता	अनन्तबल चिंतन
४ वीर	उत्साह	पुरुषार्थ	उद्यम उदारता
५ रौद्र	क्रोध	रुण्ड मुंड	अष्टकर्म क्षय
६ बीभत्स	जुगुप्सा	ग्लानि	तन अशुचि
७ भयानक	भय	चिंता	द्वंद्व मुख दशा (जन्म-मरण विचार)
करुण	शोक	कोमलता	समरसता
९ शांत	निर्वेद	माया की अरुचि	दृढ़ वैराग्य

भवरूप और भावरूप

बनारसीदासजी ने नव रसों के स्थायी भावों को भवरूप और भावरूप बताया है। भवरूप से उनका मतलब है कि वे ससार बढ़ाने वाले हैं इनसे आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता। क्योंकि लौकिक भावों की उत्पत्ति राग द्वेष मोह से होती है। बाहरी चकाचौंध में या मैं मेरा के चक्कर के कारण मनुष्य यह भूल जाता है कि वह कौन है कहाँ से आया है उसका स्वरूप क्या है कहाँ उसे पहुँचना है ? माया जाल को बढ़ाने वाले जो भाव है वे सब भवरूप है त्याज्य हैं। असल में तो मनुष्य का कर्तव्य राग द्वेष से ऊपर उठना है आत्मस्वरूप में स्थित होना है भावों और विभावों से अनुभावों और कुभावों से अतीत होना है उसका लक्ष्य तो आत्मोपलब्धि है सब प्राणियों के प्रति समरसता स्थापित करना है अपने और जगत् के गुणों का विचार करना है। वह तो स्वयं फँसा ही है और क्या फँसना है। इसीलिये बनारसीदासजी ने कहा कि जब घट में सुबोध प्रकट होता है तभी रस विरस रूपी विषमता नष्ट होती है और शुद्ध आत्म रस प्रकट होता है। आत्म रस लीनता में इंद्रियातीत स्वाद होता है—न उसमें ग्लानि होती है न भय होता है न विस्मय। सारी अथाहता सारा भय सारा क्रोध समता रस के पान में विलीन हो जाता है। ऐसी अनुभूति को ही उन्होंने 'रसकूप' कहा है जो कभी रीता नहीं होता कभी बदलता नहीं—मोक्षरूप होता है।

स्थायी भाव एक तुलना

भावरूप स्थायी भावों को हम यहाँ छोड़ दें। व ऊँची चीज है साहित्यातीत है वह ज्ञानमयी अवस्था हो है। हम यहाँ उनके साहित्यिक लौकिक या 'भवरूप' भावों के साथ ही

परम्परागत स्थायी भावों की संक्षेप में तुलना करेंगे। इस तुलना में हमारा उद्देश्य एक को हेय और दूसरे को उपादेय या एक को निकृष्ट या दूसरे को उत्कृष्ट बताने का नहीं है। अधिकारी विद्वान् इस विषय में गहराई से वैज्ञानिक विश्लेषण कर सकते हैं और इन पर विचार होना ही चाहिये।

१ रति और शोभा—शृंगाररस का स्थायी भाव रति माना गया है। रति का सीधा-सा अर्थ है प्रेम अनुराग। उसका साहित्य में दुरुपयोग भी बहुत हुआ है। कुछ भक्त कवियों ने उसके भक्तिपरक अर्थ करके पुत्र प्रेम गुरु प्रेम पत्नी प्रेम भगवद् प्रेम पर भी उसे घटा दिया है। लेकिन जब हम शोभा' की ओर ध्यान देते हैं तो प्रतीत होता है कि रति से शोभा शब्द शृंगाररस के लिये अधिक उपयुक्त है। शृंगार का सीधा अर्थ शोभा ही होता है। जब हम किसी को अस्तव्यस्त डरावनी या रोनी शक्ल में देखते हैं तब अनुराग या प्रेम होने पर भी एक प्रकार की अरुचि-सी होती है। अरुचि को हम हलकी 'घृणा भी कह सकते हैं शोभित या सजी वस्तु को देखकर मन में एक अनुराग उत्पन्न होता है। वर्षा ऋतु में धरती की हरियाली को देखकर सुन्दर फल फूलों को निरखकर प्रिय शब्दों को सुनकर जब प्रीत जागती है तभी शृंगार रस की निष्पत्ति मानी जाना चाहिए। शोभा बाहरी और भीतरी दो तरह की होती है। भीतरी शोभा को उज्ज्वलता या अनुराग कह सकते हैं जिसके प्रति अनुराग होता है उसकी बाहरी कुरूपता भी सुन्दर लगती है बल्कि उसकी ओर ध्यान ही नहीं जाता। हर माँ के लिये अपना बेटा सबसुन्दर होता है। बेटे के लिये भी माँ सबसे श्रेष्ठ होती है। शोभा में इस तरह श्रेष्ठता असीमता मानसिक अनुराग समाहित है।

पारमार्थिक दृष्टि से अपने और जगत् के गुणों का विचार करना सबमें सुन्दरता का दर्शन करना शृङ्गार रस का कारण है। यानी सम्पूर्ण सृष्टि में श्रेष्ठता शोभनीयता का दर्शन और उसके प्रति असीम अनुराग ही शृङ्गार रस का कारण है।

२ हास और आनन्द—हास्य रस का स्थायी भाव हास' माना गया है। हास अर्थात् हँसी हँसना मुसकराना। लेकिन आनन्द का अर्थ अधिक व्यापक है। हास का एक अर्थ प्रसन्नता है परन्तु सदैव हास प्रसन्नता में ही नहीं होता। परमवेदना या दुःखकी स्थिति में भी मनुष्य हँसने लगता है। किसी रचना में परम दारुण वीभत्स या भयानक संकट का वर्णन पढ़कर पाठक प्रायः हँस पड़ता है। पाठक या दर्शक की इस हँसी में पात्र की मूर्खता प्रधान होती है। हँसी पीड़ा या दुःख के प्रति नहीं होती, होती है पीड़ा के कारण मूर्खता पर अगर हास्य रस की निष्पत्ति मूर्खता से होती है तो हास्यरस का स्थायी भाव मूर्खता हो जायगी। लेकिन भीतर-ही भीतर उस मूर्खता के प्रति वेदना भी होती है। व्यक्ति अगर निकट का है तो शर्म भी लगती है। वास्तव में हास्य का मूल आधार है प्रसन्नता। इसीलिये बनारसीदासजी के अनुसार हास्य का स्थायी भाव आनन्द ठीक प्रतीत होता है। आनन्द ऊपर से अभिव्यक्त हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है। सूरदासजी की रचनाओं में यशोदा भीतर ही भीतर प्रसन्न हैं पर बाहर से कोप प्रकट कर रही हैं रस्सी से कन्हैया को बाँध भी रही हैं। असल में जिस कृति के पढ़ने से या देखने से आनन्द हो उसीसे हास्य रस की निष्पत्ति उचित है।

आत्मानन्द का उत्साह निरन्तर बनाये रखना सबके लिये प्रसन्न रहना सबमें आनन्द की अनुभूति करना समस्त चराचर विश्व में मुसकराहट का दर्शन करना अनन्त-सुख का बीज है। यह हास्य कभी क्षीण नहीं होता।

३ विस्मय और अथाहता—अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय माना गया है। अथाहता का दर्शन भी विस्मयप्रद होता है। लेकिन इसमे एक सूक्ष्म अन्तर है। छोटी-छोटी बातों का भी विस्मय होता है और यह प्राय अज्ञानजन्य होता है। ऐसे विस्मय बालको को खूब होते हैं। उनके लिये हर नयी वस्तु एक चमत्कार होती है। लेकिन अथाहता एक भाव है जो हर समय नही होता। किसी बात की विचार की गहराई देखकर बुद्धि की गहराई देखकर जो आश्चर्य होता है उसीसे रस ग्रहण होता है। अथाहता गहराई कहलाती है। साहित्य या काव्य में जब वर्णन अत्यन्त गहराई तक पहुँच जाता है तब एक प्रकार का विस्मयप्रद आनन्द होता है और कविकी सूक्ष्मता के प्रति विचारकता-कल्पनाशक्ति के प्रति अनुराग भी होता है। जादू के खेल भी अचरज मे डाल देते है, पर उनसे रस निर्माण नही होता।

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा के अनन्त बल का अर्थात् अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य और सुख का चिन्तन करना सृष्टि का अनन्तता का चिन्तन करना अद्भुत रस का आधार है। इसी व्यापक अर्थ मे अथाहता को ग्रहण करना सगत होगा। अनन्तरूपिणी इस सृष्टि का कण कण विस्मयप्रद है।

४ उत्साह और पुरुषार्थ—वीर रस का स्थान साहित्य मे बहुत ऊँचा है। शृङ्गार के बाद वीर का ही स्थान है। युद्ध वीरता दान वीरता धर्म-वीरता त्याग वीरता वाग्वीरता आदि की कितनी ही रचनाएँ हमारे साहित्य मे है उत्साह तो ठीक लेकिन वीर रस का स्थायी भाव होना चाहिये पुरुषार्थ। 'पुरुषार्थ मे उत्साह ही नही लगन और सक्रियता भी है। उत्साह को स्थायी भाव मानने का यह परिणाम हुआ है कि हमारा साहित्य युद्धवीरता और दानवीरता की प्रशस्तिया रह गया। हर प्रकार का पुरुषार्थ—सेवा का वाणिज्य का कृषि का जन जागृति का—सब वीर रस मे आता है। वीरता हमारे साहित्य मे केवल युद्ध वर्णन तक सीमित होकर रह गयी। बडे बडे सन्त मुनि और राष्ट्र क याण करनेवाले नेता वीर ही थे। त्याग-वीरता क्षमावीरता और धर्मवीरता के वर्णन या दृश्यो को शान्त रस या अध्यात्म कोटि का मान लिया गया। एक और दृष्टि से भी विचार हो सकता है कि जहाँ उत्साह मे आवेश होता है वहाँ वीरता परम गंभीर वृत्ति है। वीरता मे जितनी उदारता जरूरी है उतना आवेश नही उत्साह तो रणभेरी बजा बजाकर भी निर्माण किया जाता है लेकिन वीरता आत्मगत होती है। उत्साह ठंडा पड जाता है वीरता निरन्तर बढती है।

पारमार्थिक दृष्टि से उदारता वीर रस का मुख्य आधार है। अपने भीतर उठनेवाले समस्त सकुचित विचारों को त्यागकर जगत् के प्रति उदार वृत्ति रखना परम वीरता है। इस उदारता मे कोमलता सज्जनता भी रहती है। सच्चा वीरता में युद्ध नही त्याग और समर्पण मुख्य होता है—प्रेम प्रधान होता है। उत्साह मे आवेश मे आदमी ऊँच नीच भला-बुरा कदम उठा लेता है पर वीर का मन प्राण सतेज जागरूक प्रसन्न और उदार होता है।

५ क्रोध और रुण्ड-मुण्डता—रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध माना गया है। बनारसी दासजी ने रुण्ड-मुण्ड यानी रण संग्राम माना है। रुद्र भाव मे जो आवेश और तेजी होती है वह क्रोध मे नहीं होती। 'क्रोध के भीतर भीतर अपार करुणा भी हो सकती है, ग्लानि भी हो सकती है। भय भी हो सकता है प्यार भी हो सकता है। रौद्र रस की अनुभूति तब होती है जब हम कोई युद्ध वर्णन पढ़ते हैं या युद्ध का दृश्य देखते हैं। हमारा शरीर भी फड़कने लगता है। वहा क्रोध' की कम

ही सम्भावना रहती है। क्रोध ऐसा भाव नहीं है जिससे रस-निष्पत्ति हो और मन उसमें रम जाये। क्रोध एक मानसिक विकार है जो प्राय: अपनी ही कमजोरी पर होता है और वैयक्तिक होता है। रुद्रता या रुण्ड-मुण्डता का दृश्य देखकर रस निर्माण होता है और वह सामूहिक होता है।

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा पर छाये हुए अष्टकर्मों के आवरण को दूर करने के लिए जूझना रुद्रता है। अष्टकर्म जैन दर्शन का एक विभाग है। ये आठ कर्म आत्मा के गुणों को ढक देते हैं, इनके परमाणु सदा आत्मा पर छाये रहते हैं और सही दर्शन नहीं होने देते। यों कह सकते हैं कि अपनी पाप और पुण्य की परतों को काटना ही रुद्रता है।

६ **जुगुप्सा और ग्लानि**—जुगुप्सा और ग्लानि में सूक्ष्म अन्तर है। ग्लानि तब होती है जब हम किसी पात्र को अनैतिक अप्रामाणिक अथवा समाज विरोधी कृत्य करते पाते हैं या लेखक वैसा भाव अंकित करना चाहता है। पात्र की कृति से जो प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है वही स्थायी भाव माना जाना चाहिए। उस पात्र की जुगुप्सा यानी निन्दा हम नहीं करेंगे। निन्दा करने मे तो स्वयं एक प्रकार का रस निर्माण होगा, जिसमे क्रोध और बदनाम करने की इच्छा भी रह सकती है। ग्लानि का विषय पात्र ही नहीं वस्तु भी हो सकती है स्थान भी हो सकता है। ग्लानि मे करुणा और सदाशयता रहती है।

पारमार्थिक दृष्टि से अपने तन की अशुचिता का चिन्तन करना संसार-ससग की अशुचिता का विचार करना बीभत्स रस का कारण है।

७ **भय और चिन्ता**—भयानक रसका स्थायी भाव भय माना गया है। किसी वर्णन को पढ़कर भयभीत होना भय का वातावरण खड़ा हो जाना भयानक रस का कारण हो सकता है लेकिन किसी पात्र के प्रति चिन्ता होना उसके लिए सोच मे पड़ना भी भयानक रस का कारण है। भय और चिन्ता का भेद स्पष्ट है। हम एक कहानी पढ़ते हैं और किसी पात्र के प्रति हमारे मनमे चिन्ता उत्पन्न हो जाती है इसमे भय नहीं है। भय आक्रामक होता है। हम भयभीत हो सकते हैं परन्तु तब जब यह आशंका हो कि उसका कारण हमसे सम्बन्धित है। रामायण के रावण से हमे भय नहीं होता यद्यपि भयोत्पादक प्रसंग बहुत हैं। हाँ हनुमान के लंका पहुँचने पर चिन्ता अवश्य पाठक को हो जाती है कि अब पता नहीं क्या होगा। वहाँ हमारे मन मे भयकी लहर दौड़ जाती है कि अब सीता का क्या होगा।

पारमार्थिक दृष्टि से अपने सांसारिक स्वरूप का जन्म मरण के दु:खो का विचार करना इसमें आता है। संसार की भयानकता का विचार करना और अपने जन्म-मरण का विचार करना भयानक रस का कारण है। संसार अनेक दु:खो से भरा है जन्म-मरण का भी दु:ख है। दु:खो का विचार करना आत्मीक दृष्टि से भयानक रस का कारण है।

८ **शोक और कोमलता**—करुण रस का स्थायी भाव शोक माना गया है। बनारसी दासजी ने कोमलता' कहा है। करुण रस का आधार कोमलता सहानुभूति सरलता है न कि शोक। शोक तो तब होता है जब कोई हानि हो जाती है। उसमें कोमलता नहीं होती। किसी दीन-हीन अपाहिज का वर्णन पढ़कर मन में करुणा कोमलता जाग्रत होती है न कि शोक।

पं विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने लिखा है कि जब शोक' और 'करुणा नामो पर विचार किया जाता है तो स्पष्ट लक्षित होता है कि शोक भाव तमोगुणमय है और करुण सत्वगुण-सम्पन्न।

शोकभाव अपने ऊपर पड़नेवाली विपत्ति से हुआ करता है किन्तु रस रूप में परिणत होने पर वह करुणा का रूप धारण कर लेता है। इससे भी स्पष्ट है कि शोक और कोमलता में कितना अन्तर है। कोमलता सात्त्विकगुण-सम्पन्न वृत्ति है। कोमलता की वृत्ति दूसरे के लिये सहायक बनने वाली सात्त्विक वृत्ति है। कोमल हृदय में ही करुणा का निवास होता है।

इस पर यों भी विचार कर सकते हैं कि हमने एक ऐसा वर्णन पढ़ा कि डकैती में एक घर तबाह हो गया। परिवार के लोग शोकाकुल हो सकते हैं पर कोमल हृदय व्यक्ति उनकी मदद को पहुँच जायगा। जैनशास्त्रीय भाषा में शोक आर्तध्यान है और कोमलता धर्मध्यान है। शोक मनकी चेतना शून्य बना देता है जब कि कोमल मन सेवा को दौड़ पड़ता है।

पारमार्थिक दृष्टि से बनारसीदासजी ने समरसता का उल्लेख किया है। सम्पूर्ण विश्व के प्रति आत्मौपम्यवृत्ति समरसता रखना करुण रस का आधार है। सब प्राणियों के प्रति समरसता ऊँची सात्त्विकता है।

९ **निर्वेद और माया अरुचि** —बनारसीदासजी ने शांत रस को मूल रस या रसों का नायक कहा है क्योंकि परम शांति ही मानवात्मा का लक्ष्य है। जिन प्रसंगों को पढ़कर पाठक के मन में माया के प्रति जगत के प्रति धन दौलत के प्रति मान अभिमान के प्रति अरुचि हो जाती है वहां असल में शांत रस का आधार है। निर्वेद का एक अर्थ स्त्री पुरुष नपुंसकवेद से मुक्त शून्य अवस्था है। सामान्यतया निर्वेद उदासीनता के अर्थ में आता है आध्यात्मिक या वैराग्य प्रधान साहित्य के पढ़ने से संसार के प्रति उदासीनता हो जाना शांत रस का कारण माना गया है लेकिन ऐसी उदासीनता स्थायी भाव नहीं हो सकता। वृद्धावस्था अकुशलता अहंकार अज्ञान आलस्य आदि के कारण भी उदासीनता आती है। इससे शांत रस की निष्पत्ति बिलकुल असम्भव है।

पारमार्थिक अर्थ में दृढ़ वैराग्य ही शांत रस का कारण बताया है। बनारसीदासजी के मत से यही एक ऐसी अवस्था है जहाँ जाकर रस विरस की विषमता समाप्त हो जाती है।

साहित्य और अध्यात्म

कुछ लोगों का मत है कि साहित्य अध्यात्म से अलग ही रहना चाहिए। अध्यात्म में जीवन मूल्यों का विचार अलग ढंग से किया जाता है और साहित्य में जीवन की यथार्थता प्रधान होती है। साहित्य में कलात्मक पक्ष प्रधान होता है अध्यात्म में नीति पक्ष। साहित्य में नीति को भी स्थान है पर विकारों वृत्तियों और प्रत्येक परिस्थिति को भी स्थान है अध्यात्म में इसकी छूट नहीं है। साहित्य में शरीरागत वृत्तियों का सरस वर्णन रह सकता है पर अध्यात्म के नैतिक मूल्य इसकी इजाजत नहीं देंगे। तब बनारसीदासजी ने रसों के लिये जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रशस्त किया है उसका क्या मूल्य है ?

यह प्रश्न उठना तो नहीं चाहिए लेकिन प्रायः उठता रहता है इसका मतलब यह है कि अध्यात्म को जीवन व्यवहार की चीज नहीं समझा जाता बल्कि वह इस कोटि की चीज है जिसे गृहत्यागी संन्यासी ही अपना सकते हैं। मानो साहित्य वह है जो केवल रंजन के लिए है। यों तो अध्यात्म समर्थक भी कह सकते हैं कि वह साहित्य साहित्य ही नहीं है जो जीवन को सदाचार की ओर न मोड़े ऊँचा न उठाये ! साहित्य शब्द स्वयं हित सहित है। मनुष्य का समाज का हित साधने की सामर्थ्य साहित्य में तभी आ सकती है जब उसमें समाज को ऊँचा

उठाने की क्षमता हो। शक्ति केवल शब्दों में नहीं होती। लेकिन जब हम शब्दों को जहाँ संज्ञा देते है, उनके अर्थों में सत्य-शिव-सुन्दर का दर्शन करते हैं, तभी उसमें वह शक्ति आती है। चरित्रवान् और इकवती पुरुष के वचनों की शक्ति से सभी परिचित हैं।

'साहित्य' में साहित्यकार को कला-वर्णन या कला चित्रण की छूट होनी चाहिये और इसके बिना साहित्य की सार्थकता नही रहेगी यह कहने वाले इस पर भी तो विचार करें कि इस प्रकार की छूट वे किस उद्देश्य की पूर्ति के लिये चाहते है ? साहित्यकारो ने मौज में आकर ऐसी छूटें ली हैं लेकिन परिणाम यह है कि वह साहित्य समष्टिगत नही रह जाता और उसके प्रति गर्हा या अनादर भी व्यक्त होता है, एकांत मे अकेले मे ऐसा साहित्य पढा जाता है पर उसका जो रस ग्रहण होता है वह जीवन को पतन की ओर ही ले जाने में सहायक होता है। एक कवि ने बड़े पते की बात कही है —

> राग उदै जग अंध भयो सहजै सब लोगन लाज गमाई।
> सीख बिना नर सीख रहै विषयादिक सेवन की सुघराई।
> तापर और रचैं रस काव्य कहा कहिये तिन की निठुराई।
> अंध-असूझन की अंखियान मे झौंकत हैं रज राम दुहाई ॥

इसी तरह बनारसीदास जी ने भी वाणी विलास करने वाले कवियो की कला-चातुरी पर व्यंग करते हुए कहा है —

> मासकी गरथि कुच कचन कलस कहैं
> कहैं मुखचन्द जो मलषमा को घरू है।
> हाड के दसन आहि हीरा मोती कहैं ताहि
> मासके अधर ओठ कहै बिंब फरू हैं ॥
> हाड दण्ड भुजा कहै कौलनाल काम धुजा
> हाड ही के थंभा जघा कहै रंभातरू हैं।
> यो ही झूठी जुगति बनाव और कहाव कवि
> ऐते पर कहै हमे सारदा को बरू है ॥

यथार्थ मे ऐसे कवि अभिमान मे मस्त रहते हैं और विषय विलास की मुक्त तालीम देने का काम करते हैं इसी का वे शारदा का वर समझते हैं।

साहित्य अपने मे एक पूरा शास्त्र है और उसके अपने नियम विधान-पद्धतियाँ हैं। उसमें रस सौंदय चतुरता व्यंजना अलंकार आदि सबका अपना स्थान और महत्व है। लेकिन समग्र रूप में 'साहित्य' कोई सीमित अंग या अवयव नहीं है जिसे जीवन से अलग किया जा सके अध्यात्म जीवन का अंग है और साहित्य भी बल्कि यो कहा जाय कि अध्यात्म की प्रेरणा जगाने के लिए ही साहित्य का माध्यम अंगीकार किया जाना जरूरी है तो अतिशयोक्ति न होगी। साहित्य मे तो इतिहास पुरातत्व विज्ञान और भूगोल जैसे विषय भी अंतर्भूत हैं और होने चाहिये।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो साहित्य को देह का द्वार बताया है जहाँ कि राम नाम का मणि-दीप रखा जाना चाहिए इसलिये कि भीतर-बाहर प्रकाश पड़े यह शब्द-वन्दना नहीं तो क्या है ?

कोरा साहित्य तो दिमागी ऐयाशी मात्र होगा। शरीर के अंगो की सुन्दरता बढ़ानेवाली उपमाओं को यथास्थान सजाकर हम जिस नायिका की भूमिका खड़ी करेंगे वह विकृत ही होगी।

हाँ अध्यात्म को नीरस—रस विहीन नही रह जाना है। उसमें साहित्य की सुगन्धि उसकी सौरभ होनी चाहिये नहीं तो वह अध्यात्म ग्राह्य ही नही होगा। अध्यात्म को परलोक की वन जंगल की चीज समझने का ही यह परिणाम हुआ है कि वह समाज मे से निकलकर जंगलवासी बन गया है और समाज उसे दूर से आदर भर देना जानता है। अगर अध्यात्म हमारे नित्य जीवन का सम्पूर्ण व्यवहार का अंग रहता तो हम देखते कि साहित्य उसका अनुगामी होता और वह समाज में मन्दिर के कलश का स्थान ग्रहण करता।

हम यहाँ आदश और यथाथ के झमेले मे नही पड़ेंगे। कहना सिफ यही है कि वषयिक अभीप्साएँ तो प्रकृत ही है उनको साहित्य के माध्यम से उभारकर जीवन का महत्त्व गिरे ऐसी कलाका विकास हम चाहते हैं क्या ? ढाल की ओर पानी को बहाने का प्रयास नही करना होता। प्रयास और पुरुषाथ ऊपर की ओर चढाने मे ही होता है।

कविवर बनारसीदासजी की साहित्य साधना मनुष्य के स्वभाव को उद्देश्य मे रखकर हुई है। मनुष्य का स्वभाव आज अनेक विकारो भावो दबावो की परतो से आवरित है वह पर द्रव्य और पर भावो का दास बन गया है। इन्द्रियो और मन की गुलामी उसका स्वभाव नही है पराधीनता है। इससे मुक्त होकर हा वह अपने स्वरूप मे स्थित हो सकता है। यही बात उ होने पद पद पर कही है—

चेतन रूप अनप अमूरति सिद्ध-समान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग किया परसंग महातम घेरा॥

● ●

आचार्य वीरसेन की धवलाटीका

प्रो० उदयचन्द्र एम० ए०

[आचार्य वीरसेन के सम्मुख सूत्रों तथा उनके व्याख्यानों में विरोध पाया जाता था। कहीं-कहीं सूत्रों पर आचार्यों का कोई मत उपलब्ध नहीं था। ऐसे स्थलों में वीरसेन ने अपने गुरु के उपदेश के अनुसार परम्परागत उपदेश द्वारा तथा सूत्रों से अविरुद्ध अन्य आचार्यों के वचनों द्वारा निर्णय किया। और कहीं-कहीं अपने मौलिक विचार भी प्रस्तुत किये हैं ।]

भगवान् महावीर ने प्राणिमात्र के कल्याण तथा उद्धार के लिए जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था और गौतम गणधर ने जिनका द्वादशाग वाणी के रूप मे संकलन किया था उन सिद्धान्तो के पठन पाठन और श्रवण की परम्परा गुरु शिष्य परम्परानुसार कई-सौ वर्षों तक मुखाग्र ही चलती रही। किन्तु काल के प्रभाव से श्रुति-स्मृतिधारी आचार्यों का क्रमश ह्रास होता गया और तदनुसार श्रत का प्राय बहुभाग विस्मृति के गर्भ मे समा गया। ऐसे समय में जब कि द्वादशाग श्रुत का प्राय बहुभाग विस्मृति के गर्भ मे समा गया था आचाय धरसेन हुए जिन्हे द्वादशांग का कुछ भाग ज्ञात था। उन्होने उस अमूल्य ज्ञान को सुरक्षित रखने की आवश्यकता का अनुभव किया। तब धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक दो शिष्यो को द्वादशाग का अवशिष्ट भाग पढाया। ये दोनो ही षटखण्डागम के रचयिता हुए। पुष्पदन्त और भतबलि ने जिन सिद्धान्तो को अपने गुरु से सीखा था उन्ही को सूत्रो मे निबद्ध किया जो षटखण्डागम के नाम से प्रसिद्ध हुए। षटखण्डागम का रचना ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी के मध्य मे हुई है। हम आचाय धरसेन पुष्पदन्त और भतबलि के अत्यन्त ऋणी हैं जिनके द्वारा हमे षटखण्डागम के रूप मे तीर्थंकरो की द्वादशाग वाणी का अवशिष्ट ज्ञान आज भी सुलभ हो रहा है।

षट्खण्डागम के टीकाकार वीरसेन

इन्द्रनन्दि के श्रतावतार के अनुसार षटखण्डागम पर छह टीकायें लिखी गई हैं जिनमें से धवला अन्तिम है। यह टीका आचार्य वीरसेन द्वारा लिखी गई है और इसका परिमाण ७२ हजार श्लाक है। प्रस्तुत निबन्ध का यही मुख्य विषय है। वीरसेन ने षटखण्डागम पर धवला-टीका ही नही लिखी किन्तु कषायप्राभृत पर २० हजार श्लोक प्रमाण जयधवला-टीका भी लिखी है। धरसेनाचार्य के समकालीन आचार्य गुणधर हुए है जिन्होने कषायप्राभृत की रचना की थी। इस पर यतिवृषभ आचार्य ने चूर्णिसूत्र रचे थे। इन्ही पर वीरसेन ने जयधवला-टीका लिखी है। लेकिन उसे वे पूरा नहीं कर सके और उनके सुयोग्य शिष्य जिनसेन ने जयधवला का शेष भाग लिखा जिसका परिमाण ४ हजार श्लोक है। इस प्रकार जयधवला का कुल परिमाण ६० हजार श्लोक है। वीरसेन ने ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला और २ हजार श्लोक प्रमाण जयधवला अर्थात् कुल ६२ हजार श्लोक

प्रमाण टीका का निर्माण २१ वर्ष में किया था। इससे उनकी सूक्ष्म बुद्धि गहन पाण्डित्य और विशाल स्मृति का पता चलता है।

वीरसेन का व्यक्तित्व

वीरसेन सिद्धान्त छन्द ज्योतिष व्याकरण और प्रमाणशास्त्र मे निपुण थे। यह बात धवला की अन्तिम प्रशस्ति से ज्ञात होती है। यथा—

सिद्धंत-छन्द जोइस-वायरण पमाणसत्थ-णिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिया एसा वीरसेणेण ॥ ५ ॥

ऊपर बतलाया गया है कि द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ कषायप्रभृत की टीका जयधवला का एक तिहाई भाग वीरसेन ने लिखा है और दो तिहाई भाग जिनसेन ने लिखा है। जिनसेन ने जयधवला की प्रशस्ति में वीरसेन को साक्षात् केवली के समान समस्त विश्व का द्रष्टा बतलाया है। यह भी कहा गया है कि उनकी सर्वार्थगामिनी स्वाभाविक प्रज्ञा को देखकर सर्वज्ञ की सत्ता मे किसी मनीषी को कोई शका नही रही।[1]

जिनसेन ने आदिपुराण मे वीरसेन की स्तुति की है। वहाँ उनकी लोकविज्ञता कवित्व शक्ति और वाचस्पति के समान वाग्मिता की प्रशसा की गई है। उन्हे सिद्धान्तोपनिबन्धो का कर्ता बतलाया गया है और उनकी धवला भारती को समस्त भुवन-व्यापिनी कहा है।

धवला टीका से प्रतीत होता है कि वीरसेन के सामने सूत्रग्रन्थो के अनेक सस्करण थे और उनमे कई पाठभेद भी थे। उन्होने सूत्रग्रन्थो के विभिन्न पाठभेदो तथा पाठभेद-जन्य मतभेदो का यथासंभव उल्लेख किया है। तथा सूत्र का लक्षण निम्नप्रकार बताया है—

सुत्तं गणहरकहियं तहय पत्तयबुद्धकहियं च।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्विकहियं च ॥

—वग्गणाखण्ड भाग १३ पृ ३८१।

सूत्र वह है जिसका कथन गणधर प्रत्येकबुद्ध श्रुतकेवली और अभिन्नदशपूर्वी ने किया हो।

कही-कही पर षटखण्डागमसूत्रो मे कषायप्राभृत आदि अन्य सूत्रो से विरोध पाये जाने पर वीरसेन ने निर्णय करने मे अपनी असमर्थता प्रकट करके यह बतलाया है कि कौन सूत्र है और

---

१ श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः। पारदृश्वाधिविश्वाना साक्षादिव स केवली ॥१९॥
यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञा दृष्टवा सर्वार्थगामिनीम्। जाता सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिण ॥२ ॥

२ लोकवित्व कवित्वं च भट्टारके द्वयम्। वाग्मिता वाग्मिनो यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥
सिद्धान्तोपनिबन्धाना विधातुर्मद्गुरोश्चिरम। मन्मन सरसि स्थेयात् मृदुपादकुशेशयम्।
धवला भारतीं यस्य कीर्तिं च शचिनिर्मलाम्। धवलीकृतनि शेषभुवना ता नमाम्यहम् ॥

—आदिपुराण-उत्थानिका—५६ ५७ ५८।

कौन असूत्र इसका निर्णय आगम में निष्णात आचार्य करें। हम इस विषय में निर्णय करने में असमर्थ हैं क्योंकि हमें इसका कुछ भी उपदेश नहीं मिला है।[१]

कहीं कहीं पर षटखण्डागम से विरोधी सूत्रों का व्याख्यान यह कहकर कर दिया है कि सूत्र और असूत्र का निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी अथवा केवलज्ञानी ही कर सकते हैं। किन्तु न तो वर्तमान काल में पूर्वधारी और केवलज्ञानी हैं और न उनके पास से सुनकर आये हुए भी कोई पुरुष हैं। ऐसी स्थिति में सूत्रों की प्रामाणिकता नष्ट होने के भय से आचार्यों को तो दोनों ही सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिए।[२]

कही-कही पर सूत्रो पर उठाई गई शंका के विषय मे वीरसेन ने यहाँ तक कह दिया है कि इस विषय की पूँछताछ गौतम से करना चाहिए। हमने तो यहाँ उनका अभिप्राय कहा है।[३]

कही-कही पर वीरसेन ने षटखण्डागम के सूत्रो मे अन्य सूत्रो से विरोध का समाधान यह कह कर भी किया है कि यद्यपि यहाँ विरोध सत्य है फिर भी एकान्त ग्रहण नही करना चाहिए। क्योंकि वास्तव में यह विरोध सूत्रो का नही है किन्तु इन सूत्रो का जिन्होंने संकलन किया है उनके सकलश्रुत का ज्ञाता न होने से उनके द्वारा विरोध आजाना संभव है।

कही कही सूत्रो पर आचार्यो का कोई मत उपलब्ध नही था। ऐसे स्थलों मे वीरसेन ने अपने गुरु के उपदेश के अनुसार परम्परागत उपदेश द्वारा तथा सूत्रों से अविरुद्ध अन्य आचार्यों के वचनो द्वारा निर्णय किया है।

धवला मे षटखण्डागम के साथ अन्य सूत्रो और उनके व्याख्यानो मे विरोध के अतिरिक्त एक और विरोध का उल्लेख पाया जाता है जिसे वीरसेन ने उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ति के

---

१ तदो तेहि सुत्तहि एदेसिं सुत्ताणं विरोहो हादि त्ति भणिदे जदि एवं उवदेसं लद्धूण इदं सुत्त इद चासुत्तमिदि आगम णिउणा भणतु ण च अम्हे एत्थ वोत्त समत्था अलद्धोवदसत्तादो।
—धवला टीका

२ होदु णाम तुम्हेहि वुत्तत्थस्स सच्चत्तं बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीण उवरि णिगोदपदस्स असु वलंभादो। चोद्दसपुव्वधरो केवलणाणी वा ण च बहमाणकाले ते अत्थि। ण च तेसिं पासे सोदूणागदा वि सपहि उवलब्भंति। तदो थप्प काऊण वे वि सुत्ताणि सुत्तासायण भीरुहि आयरिएहि वक्खाणेयव्वाणि।—धवला-टीका

३ सुत्ते वणप्फदिसण्णा किण्ण णिद्दिट्ठा? गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगो दपदिट्ठिदाण वणप्फदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अभिप्पाओ कहिओ।—धवला-टीका

४ कसायपाहुडसुत्तेणेद सुत्त विरुज्झदि त्ति वुत्ते सच्चं विरुज्झइ किन्तु एयंतग्गहो एत्थ ण कायव्वो। कध सुत्ताण विरोहो? ण सुत्तोवसंधाराणमसयलसुदधारयाइरियपरतंताण विरोहसंभव दंसणादो।
—धवला टीका।

५ कधमेदं णव्वदे? गुरूवदेसादो। सुत्ताभावे सत्त चेव अंडाणि कीरंति त्ति कधं णव्वदे? ण आइरियपरम्परागदुवदेसादो। सुत्तेण विणा कुदो णव्वदे? सुत्ताविरुद्धाइरियवयणादो।
—धवला-टीका।

नाम से बतलाता है। ये दो विभिन्न मान्यतायें थी जिनमे से वीरसेन ने दक्षिण प्रतिपत्ति को स्वीकार किया है। क्योंकि उन्होने उसे सरल स्पष्ट और आचार्य परम्परागत बतलाया है तथा उत्तर-प्रतिपत्ति क्लिष्ट बाम और आचार्य-परम्परागत नही है ऐसा कहा है। उदाहरणस्वरूप उपशमश्रेणी में प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवो की संख्या ३ ४ और क्षपकश्रेणी मे प्रत्येक गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या ६ बतलाकर यह कहा है कि यह उत्तर प्रतिपत्ति है। पूर्वोक्त संख्या मे से उपशमश्रेणी मे ५ कम तथा क्षपकश्रेणी मे १ कम करने पर दक्षिण प्रतिपत्ति होती है।

वीरसेन ने कुछ विषयो पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए है जिनमे से कुछ निम्न प्रकार हैं—

आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) के चार भेद है—अवग्रह ईहा अवाय और धारणा। अवग्रह के दो भेद हैं—अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह। चक्षु आदि इन्द्रिया के विषयभूत स्थिर और स्थूल वस्तु को अर्थ कहते हैं और अव्यक्त श दादि को यंजन कहते है। अथ का जो अवग्रह रूप ज्ञान होता है वह अर्थावग्रह हैं और यजन का जो अवग्रहरूप ज्ञान होता है वह व्यजनाग्रह है। अर्थात व्यक्त ग्रहण को अर्थावग्रर और अव्यक्त ग्रहण को व्यजनावग्रह कहते हैं। अर्थावग्रह पाँचो इन्द्रियो और मन से होता है किन्तु व्यजनावग्रह चक्षु और मन को छोडकर शेष चार इन्द्रियो से होता हैं। चक्षु स्वरूप पू यपाद अकलक आदि शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। अर्थावग्रह और यंजनावग्रह का उक्त और मन अप्रा यकारी है तथा आचार्यो क अनुसार है। किन्तु वीरसेन ने अर्थावग्रह और यजनावग्रह को एक स्वतन्त्र याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार अप्राप्त अथ का ग्रहण अर्थावग्रह है औ प्राप्त अर्थ का ग्रहण यंजनावग्रह है। विषय और इन्द्रिय के सयोग के बिना जो ग्रहण होता है वह अप्राप्त ग्रहण है तथा सयोगज य ग्रहण प्राप्त ग्रहण है। अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह की उक्त व्याख्या के अनुसार वीरसन चक्षु और मन को केवल अप्राप्यकारी मानते हैं तथा शेष चार इन्द्रिया को प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी दोनो प्रकार का मानते हैं। इस कथन का पुष्टि मे उ होने अनेक युक्तियाँ भी दी है। घ्राणेन्द्रिय रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय नौ योजन है तथा श्रोत्रेन्द्रिय का उत्कृष्ट विषय बारह योजन है। अत इन इन्द्रियो के उत्कृष्ट क्षयोपशम को प्राप्त हुआ जीव नौ योजन की दूरी से ही गन्ध रस और स्पर्श का ज्ञान करने में समर्थ होता है। इसी प्रकार बारह योजन की दूरी से शब्द को ग्रहण करने मे भी समर्थ होता है। यह देखने मे भी आता है कि चीटियाँ अधिक दूरी पर स्थित पदार्थो के गन्ध का ज्ञान कर लेती हैं।

दर्शन और ज्ञान

जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैं—दर्शन और ज्ञान। दर्शन का अर्थ क्या है इस विषय मे मतभेद है। प्रचलित व्याख्या के अनुसार ज्ञान के पहले पदार्थ के आकार आदि को

---

१ के वि पुव्वुत्तपमाणं पचूणं करति। एद पचूणं वक्खाणं पवाइज्जमाणं दक्खिणमाइरियपरपरा गयमिदि ज वुत्तं होइ। पुव्वुत्तवक्खाणमपवाइज्जमाणं वाउ आइरियपरपरा अणागदमिदि णायव्व। एसा उत्तर पडिवत्ती। एत्थ दस अवणिदे दक्खिण पडिवत्ती हवदि।

धवला-टीका खण्ड १ भाग २ पृष्ठ ९२–९४।

२ अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रह। प्राप्तार्थग्रहण व्यजनावग्रह।

धवला-टीका खण्ड ५ भाग १ ३ पृ २२।

ग्रहण न करके जो सामान्य-ग्रहण होता है वह दर्शन है। और पदार्थ के आकार आदि के साथ जो ग्रहण होता है वह ज्ञान है। अन्य आचार्यों ने दर्शन और ज्ञान की ऐसी व्याख्या की है। किन्तु वीरसेन इस व्याख्या से सहमत नहीं जान पड़ते। उन्होंने सामान्य पद से आत्मा का ग्रहण करके दर्शन का यह अर्थ किया है कि उपयोग की आभ्यन्तर प्रवृत्ति का नाम दर्शन[1] है और बाह्य प्रवृत्ति का नाम ज्ञान है। किसी पदार्थ को जानने के पहले जो आत्मोन्मुख वृत्ति होती है उसे दर्शन कहते हैं और घट आदि बाह्य पदार्थो का जानना ज्ञान है। इस प्रकार वीरसेन ने आत्मप्रत्यय को दर्शन और परप्रत्यय को ज्ञान कहा है।

गृहीतग्राही ज्ञान में प्रामाण्य-समर्थन

प्रमाण रूप ज्ञान को अगृहीतग्राही होना चाहिए या गृहीतग्राही ज्ञान में भी प्रमाणता हो सकती है इस विषय मे आचार्यों में मतभेद रहा है। अकलंक आदि आचार्यो ने प्रमाण को अगृहीतग्राही माना है। किन्तु वीरसेन ने गृहीतग्राही ज्ञान में प्रमाणता का समर्थन किया है। उन्होंने ईहादि ज्ञानो के निरूपण के समय यह बतलाया है कि गृहीतग्राही होने से ईहादि ज्ञानो मे अप्रमाणता की आशंका करना ठीक नही है। क्योंकि पूर्णरूप से अगृहीत अर्थ को ग्रहण करने वाला कोई भी ज्ञान उपलब्ध नही होता है। गृहीत अर्थ को ग्रहण करना अप्रमाणता का कारण नही है क्योंकि संशय विपर्यय और अनध्यवसायरूप ज्ञानो मे ही अप्रमाणता पाई जाती है[2]।

इस प्रकार वीरसेन ने अनेक विषयो पर अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं।

वीरसेन का समय

धवला की प्रशस्ति मे धवला-टीका के समाप्त होने का समय वर्ष मास तिथि नक्षत्र आदि के साथ दिया है तथा जगतुंगदेव और नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणराय नाम के राजाओं का उल्लेख भी किया है। उन्ही के राज्य मे धवला टीका रची गई थी। अत धवला की प्रशस्ति के अनुसार यह सुनिश्चित निष्कर्ष निकलता है कि धवला की समाप्ति शक सम्वत् ७३८ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी तदनुसार ८ अक्टूबर सन् ८१६ को हुई थी। अत वीरसेन का समय ईसा की आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध सुनिश्चित है।

नामकरण

वीरसेन ने अपनी टीका का नाम धवला क्यो रक्खा इसका कोई कारण तो नही बतलाया है लेकिन धवला नाम का उल्लेख प्रशस्ति में अवश्य किया है। धवला-टीका कार्तिक मास के धवल (शुक्ल) पक्ष की त्रयोदशी को समाप्त हुई थी। संभवत इसी कारण इसका नाम धवला रख दिया हो। धवल का अर्थ श्वेत के अतिरिक्त शुद्ध विशद और स्पष्ट भी होता है। इन गुणो से युक्त होने के कारण भी धवला नाम संभव है। यह टीका अमोघवर्ष प्रथम के राज्यकाल मे पूर्ण हुई थी।

---

१ अंतरंगविसयस्स उवजोगस्स अणायारत्तब्भुवगमादो।

—धवलाटीका खण्ड ५ भाग १–३ पृ २०७।

२ न गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यम सर्वात्मना अगृहीतग्राहिणो बोधस्यानुपलंभात्। न च गृहीतग्रहणमप्रामाण्यनिबन्धनम्, सशयविपर्ययानध्यवसायजातेरेव अप्रमाणत्वोपलंभात्।—धवला टीका खण्ड ५ भाग १ ३ पृ २१९।

इनकी अनेक उपाधियाँ थी जिनमे से एक उपाधि अतिशय धवल भी थी। सभवत यह उपाधि भी धवला-नामकरण में निमित्त कारण हुई हो। चाहे धवला नाम का कारण कुछ भी रहा हो लेकिन यह टीका अपने नाम के अनुरूप ही समस्त भुवन को चिरकाल तक धवल करती रहेगी।

वीरसेन के सामने उपलब्ध साहित्य

वीरसेन ने धवला टीका मे अपने पूववर्ती अनेक आचार्यों तथा उनके ग्रन्थो का उल्लेख करके उनमें से अनेक अवतरण दिए है। इसके अतिरिक्त नामोल्लेख के बिना भी गद्य और पद्य के अनेक उद्धरण दिए हैं जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उनके सामने विशाल जन साहित्य विद्यमान था और उसका उन्हे पूर्ण ज्ञान था।

टीका की भाषा

जैनागम और दर्शन के व्याख्याताओ ने सदा ही लोक भाषा का समुचित आदर किया है। यही कारण है कि भगवान् महावीर ने अर्धमागधी मे अपना उपदेश दिया था। अर्धमागधी में आधे शब्द मगध की भाषा के तथा आधे इतर प्रान्तो की भाषा के रहते थे जिससे सब लोगो को समझने मे सुविधा हो। आजकल अर्धमागधी को प्राकृत का ही एक प्रकार माना जाता है। महावीर के बाद भी जन परम्परा मे प्राकृत का प्राबल्य रहा है। इसी परम्परा के अनुसार जनागम के ऊपर सवप्रथम ग्रन्थ षटखण्डागम की रचना भी प्राकृत मे ही हुई थी। वीरसेन के सामने जो जैनसाहित्य विद्यमान था उसका अधिकाश भाग प्राकृत मे ही था। इसी कारण वीरसेन की टीका का बहुभाग प्राकृत में ही है। तथा कुछ भाग सस्कृत मे है। इसका कारण यह मालूम पडता है कि वीरसेन के समय मे सस्कृत का प्रचार ब चला था और प्राकृत का प्रचार कम होने लगा था। अत वीरसेन ने संस्कृत को भी अपनी टीका मे स्थान दिया है। इस प्रकार जनाचार्यों द्वारा प्राकृत और संस्कृत मे सहस्रो ग्रन्थ लिखे गए। पुन जब से सस्कृत का प्रचार कम हुआ और हिन्दी की प्रतिष्ठा होने लगी तब से हिन्दी मे भी आचार्य परम्परा के अनुसार ग्रन्थो का निर्माण होने लगा। हिन्दी मे मौलिक निर्माण के अतिरिक्त प्राकृत और सस्कृत के ग्रन्थो का अनुवाद भी अधिक मात्रा मे हुआ है और हो रहा है।

उपसहार

आज से लगभग ५ वर्ष पहले पुष्पदन्त भूतबलि और वीरसेन की कृतियाँ केवल दर्शन की ही वस्तु थीं और उनका दर्शन भी सुलभ नही था। किन्तु हमारे सौभाग्य से समाज के कुछ मूर्धन्य श्रीमानो और धीमानों के सतत परिश्रम एवं त्याग के फलस्वरूप आज उक्त कृतियो का प्राय समस्त भाग हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो गया है। केवल जयधवला का कुछ भाग प्रकाशित होने को शेष रहा है। अत भगवान् महावीर के द्वारा कथित गौतम गणधर के द्वारा ग्रथित धरसेन द्वारा संरक्षित तथा पुष्पदन्त भूतबलि और वीरसेन के द्वारा रचित जिनवाणी को आज एक साधारण जन भी हृदयङ्गम कर सकता है।

●●●

परीक्षामुख : एक अनुशीलन

श्री सुदर्शनलाल एम० ए०

शोध-छात्र, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय

तत्त्वार्थ के प्रतिपादन मे जो स्थान जैन धम के तत्त्वार्थसूत्र का ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन में ब्रह्मसूत्र का योगशास्त्र के विवेचन में पातञ्जल-योगसूत्र का और न्यायशास्त्र के न्याय निर्णय मे गौतम के न्यायसूत्र का है वही स्थान एवं प्रसिद्धि जैन न्याय के आद्य सूत्र ग्रन्थ परीक्षामुख की भी है। कहीं-कही पर परीक्षामुख के सूत्र गौतम के न्यायसूत्र से अधिक लघु तर्कसगत एवं सुस्पष्ट अर्थ से समन्वित दृष्टिगोचर होते हैं।

विषय परिचय

परीक्षामुख मे मुख्यरूप से प्रमाण और प्रमाणाभास का २१२ सूत्रो द्वारा जो ६ परिच्छेदों मे विभक्त हैं विशद एव तर्कसगत चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थारम्भ मे एक कारिका द्वारा प्रतिपाद्य विषय और ग्रन्थ निर्माण का प्रयोजन बताया गया है तथा ग्रन्थ परिसमाप्ति के अवसर पर भी एक कारिका[२] दी गइ है जिसमे बाल शब्द से अपनी अल्पज्ञता एव विनयशीलता का परिचय देते हुए परीक्षामुख को हेयोपादेयतत्त्व का निर्णय करने के लिए एक दर्पण बताया गया है। ग्रन्थ मे विषय प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है

१ प्रथम परिच्छेद में १३ सूत्रो द्वारा प्रमाण के स्वरूप तथा उसके प्रामाण्य का निश्चय किया गया है।

२ द्वितीय परिच्छेद मे सवप्रथम प्रमाण के दो भेद करके प्रत्यक्ष के मुख्य और साव्यवहारिक दोनो भेदो का विचार १२ सूत्रो में किया गया है।

३ तृतीय परिच्छेद मे परोक्ष प्रमाण के पाचो भेदो (स्मृति प्रत्यभिज्ञान तक अनुमान और आगम) का विवेचन १ १ सत्रो में किया गया है। इसमे न्याय के प्रमुख अङ्ग अनुमान का विशाल वश वृक्ष भी समुपस्थित किया है। अत यह परिच्छेद सबसे बड़ा हो गया है।

४ चतुर्थ परिच्छेद में ९ सूत्रो द्वारा प्रमाण का विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु बतलाकर उसका सभेद वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

---

१ प्रमाणादर्थससिद्धिस्तदाभासाद्विपर्यय ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयस ॥ १ ॥

२ परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयो ।
संविदे मादृशो बाल परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥ २ ॥

५ पचम परिच्छेद मे केवल ३ सूत्र है जिनमे प्रमाण के उभयविध फल ((१) साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति तथा (२) परम्पराफल हानोपादानोपेक्षाबुद्धि) को कहक उसे प्रमाण मे कथचित् भिन्न और कथंचित अभिन्न बतलाया गया है।

६ षष्ठ परिच्छेद मे प्रमाणाभासो (स्वरूपाभास संख्याभास विषयाभास और फलाभास) का सविस्तृत विवेचन उपलब्ध है। अ त मे जय पराजय आदि की भी जैन दृष्टि से व्यवस्था की गई है। इस परिच्छेद मे कुल ७४ सूत्र हैं।

इस तरह इस परीक्षामुख मे जैन याय के प्राय सभी उपादानो—मौलिक विषयो पर प्राञ्जल एव विशद भाषा मे बड़ी कुशलतापूवक प्रकाश डाना गया है। इसीसे संभवत आचाय प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख को गम्भीर निखिलार्थप्रकाशक निमल शिष्य प्रबोध प्रद एव अद्वितीय रचना कहा है।

उद्गम

इस परीक्षामुख को आचाय अकलङ्क के वचनरूपी समुद्र से मथकर निकाला गया याय विद्यामृत कहा गया है। वस्तुत परीक्षामुख का मूल उद्गम स्रोत आचाय अकलङ्क के याय ग्र थ (अष्टशती लघीयस्त्रय यायवि नश्चय प्रमाणसग्रह एव सिद्धिविनिश्चय) है। कुछ अशो मे आचाय विद्यानन्द के ग्र थ (प्रमाणपरीक्षा पत्रपरीक्षा त वार्थश्लोकवार्तिक आदि) भी हैं।

परीक्षामुख जितना सरल है उतना ही गम्भीर है। यही कारण है कि जन यायशास्त्र मे प्रवेश के लिए प्रथमत इसका अध्ययन किया जाता है। तदुपरान्त इस पर लिखी गई टीकाओ के आधार पर इसके गहन अर्थ का स्पष्टाकरण अवगत किया जाता है।

टीकाएँ

इस परीक्षामुख की कई मह वपूण टीकाएँ उपल ध है। उनमे सवप्रथम आचाय प्रभाचन्द्र द्वारा लिखित १२ हजार श्लोक प्रमाण प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामकी विशाल टाका है जिसके अध्ययन से समस्त न्यायशास्त्र का सम्यग्नान हो जाता है। इसके ऊपर मैं हि दी टीका लिख रहा हू जिसका प्रथम परिच्छेद पूण हो चुका है। उसम मैं इस ग्र थ पर विशद विचार करूँगा। इसक उपरान्त १२वी

---

१ गम्भीरं निखिलाथगोचरमल शिष्यप्रबोधप्रदम्।
यद्व्यक्त पदमद्वितीयमखिल माणिक्यनन्दिप्रभो ॥

२ अकलङ्कवचोम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने। —प्रमेयर नमाला श्लो २।

आचाय प्रभाच द्र ने भी प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के प्रारम्भ में कहा है—

श्रीमदकलङ्कार्थोऽव्युत्पन्नप्रज्ञरवगन्तु न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतलामलकवत् तदथ मुद्धृत्य प्रतिपादयितुकामस्तत्परिज्ञानाऽनुहेच्छाप्ररितस्तदथप्रतिपादनप्रवणं प्रकरणमिदमाचार्य प्राह।

३ इस सम्बन्ध मे प्रो दरबारीलालजी कोठिया का वह शोधपूर्ण निबन्ध द्रष्टव्य है जो अनेकान्त (वर्ष ५ किरण ३ ४) तथा आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना मे प्रकाशित है। उन्होंने इसमें ग्रन्थो की तुलना द्वारा परीक्षामुख के मूल स्रोतो की खोज प्रस्तुत की है।

४ विशेष— प्रमेयकमलमार्त्तण्ड भूमिका—प महे द्रकुमार यायाचाय।

शताब्दी के मध्यम लघु अनन्तवीर्य ने प्रमेयरत्नमाला (जो परीक्षामुखपञ्जिका एवं परीक्षामुख लघुवृत्ति के भी नाम से प्रसिद्ध है) नाम की प्रसन्न और ललित शैली वाली टीका लिखी है, जिस पर कालान्तर में 'अर्थप्रकाशिका और प्रमेयरत्नदीपिका नामकी दो टीकाएँ लिखी गईं। इसके उपरान्त नव्यन्याय के प्रचार को देखकर आचार्य चारुकीर्ति ने जैन न्याय को उसी शैली में ढालने के प्रयत्न स्वरूप प्रमेयरत्नालंकार नाम की टीका लिखी जो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड' और प्रमेयरत्नमाला को एक कड़ी में जोड़ने का उपक्रम करती है। चतुर्थटीका प्रमेयकण्ठिका है जो परीक्षामुख के प्रथम सूत्र (स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्) पर पाँच स्तवकों मे श्रीच्छान्तिवर्णि द्वारा लिखी गई है।

महत्त्व और ग्रन्थ-वैशिष्ट्य

उत्तरकाल मे परीक्षामुख का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि परवर्ती अनेक आचार्यों के ग्रन्थ परीक्षा मुख के उपजीव्य बने है। हेमचन्द्राचार्य की प्रमाणमीमासा और वादिदेवसूरि का प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ये दो ग्रन्थ तो परीक्षामुख के विशेष आभारी हैं।

प्रभाचन्द्र लघु अनन्तवीर्य पण्डिताचार्य चारुकीर्ति शान्तिवर्णी आदि कई विद्वान उनके प्रमुख टीकाकार ही हैं। न्यायदीपिकाकार आचार्य अभिनवधर्मभूषण ने न्यायदीपिका मे परीक्षा मुख के सूत्रो को सादर उद्धृत किया है। एक स्थल पर तो परीक्षामुखसूत्रकर्त्ता के लिए भगवान् और भट्टारक जैसे विशेषणो से सम्बोधित किया है।

इसके सभी सूत्र नपे-तुले सार युक्त अर्थ गर्भ असंदिग्ध और अल्प शब्दो को लिए हुए हैं। उदाहरणार्थ प्रथम सूत्र को ही लीजिए। इसके सभी पद सहेतुक तथा अपनी विशेषता के द्योतक है। परीक्षामुख मे प्राय सर्वत्र परमत के निराकरण के साथ स्वमत-स्थापना की शैली का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए निम्न सूत्रो को देखिए —

(क) तत्प्रामाण्यं स्वत परतश्च ।—परीक्षामुख १ १३ ।

(ख) एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् । ३ ३३ ।

(ग) न च ते तदङ्गे ।—३ ३६ ।

कुछ ग्रन्थो के साथ परीक्षामुख की तुलना

(क) परीक्षामुख और प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार—प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार और परीक्षामुख के सूत्रो की जब हम तुलना करते हैं तो लगता है कि परीक्षामुख के सूत्र ही वादिदेव सूरि ने कहीं कुछ शब्द-परिवर्तन करके ज्यो-के-त्यो रख दिए हैं कहीं शब्दाडम्बर इतना बढ़ा दिया है कि अर्थ भी क्लिष्ट हो गया है कही कहीं उदाहरणो मे अप्रसिद्ध शब्दो का प्रयोग भी किया गया है

१ विशेष जानकारी के लिए तत्तत् ग्रन्थों का तथा प्रो० दरबारीलाल जी के प्रबन्ध का (हीरकजयन्ति-कानजीस्वामी-अभिनन्दनग्रन्थ पृष्ठ—३ ०) अवलोकन करें।

२ न्यायदीपिका (सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद—प्रो दरबारीलाल कोठिया) पृष्ठ-२६ २७ ३३ ३७ ५२ ७३ ७७ ८ तथा ९९ आदि।

३ तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दिभट्टारक' —न्यायदीपिका पृष्ठ-१२

जिससे अर्थावबोध मे कष्ट होता है कही-कही सूत्रो का भाव ही तिरोभूत हो गया है। कहीं सूत्र इतने लम्बे दिखाई पड़ते हैं जैसे कोई भाष्य लिखा जा रहा हो। इसके विपरीत परीक्षामुख के सूत्र लघु सरल और अर्थगरिमा से समन्वित हैं। प्रमाणनयत वालोकालंकार के प्रथम छह परिच्छेद तो परीक्षामुख के आधार पर बनाये गये हैं परन्तु अन्तिम दो परिच्छेदो में नयादि का अतिरिक्त वर्णन किया गया है जिसकी परीक्षामुख मे केवल सूचना दी गई है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार में सूत्रात्मकता की अपेक्षा वृत्तिरूपता अधिक है। संभवत लेखक का अभिप्राय विषय-स्पष्टीकरण एव पाण्डित्य प्रदर्शन रहा हो।

(ख) परीक्षामुख और प्रमाणमीमासा—इन दोनो ग्र थो की भी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि प्रमाणमीमासा मे भी परीक्षामुख का पर्याप्त अनुकरण किया गया है। अनुकरण करने पर भी प्रमाणमीमासा के सूत्रो मे वह लघुरूपता नही आ पाई जो परीक्षामुख के सूत्रो मे है। इतना अवश्य है कि उसके सूत्रो मे प्रमाणनयत वालोकालंकार के सूत्रो की तरह दीघरूपता नही है।

(ग) यायसूत्र यायबि दु और परीक्षामुख—यद्यपि परीक्षामुख मे धर्मकीर्ति के यायबिन्दु दिङ्नाग के यायप्रवेश और गौतम के यायसूत्र का प्रभाव परिलक्षित होता है तो भी परीक्षामुख के सूत्र यायबि दु आदि की अपेक्षा अ पाक्षर और अथगर्भ है। यायसूत्र और याय बिन्दु मे प्रमाणसामान्य का कोई लक्षण उपल ध नही है केवल उसके भेदो को गिना दिया गया है। पर परीक्षामुख मे प्रमाणसामा य का लक्षण तथा उसके भेद दोनो उपल ध है। इसी तरह न्यायसूत्र मे सव्यभिचार हेत्वाभास का लक्षण करत समय उसका पर्यायवाची ही श रखा गया है जिससे उसका लक्षण स्पष्ट नही हो सका है। जब कि परीक्षामुख मे उसका लक्षण स्पष्ट मिलता है।

इससे प्रकट है कि परीक्षामुख न केवल जन न्याय विद्या का एक अपूव ग्र थ है अपितु भारतीय न्याय शास्त्र गगन का वह एक प्रकाशमान् नक्षत्र है।

ग्र थकार

परीक्षामुख के कर्ता कौन है और उनका समय एव परिचय क्या है ? आदि प्रश्नो का यहाँ उठना स्वाभाविक है। अत उनपर यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

इस महत्त्वपूण जन यायसूत्र ग्र थ के कर्ता आचाय माणिक्यनन्दि हैं जिनका उ लेख एवं स्मरण शिला लेखो और समवर्ती एव उत्तरवर्ती साहित्यिक रचनाओ मे किया गया है। उनके समकालीन आचार्य नयनन्दि (वि की ११ वी शती) ने उ हे महा पण्डित और तर्ककुशल

---

१ क्रमश दृष्टव्य सूत्रो की संख्या—(क) प्रमा न १ ३ तथा २ २ परी १ २ तथा २ ३।
२ विशेष के लिए देखें प वंशीधरजी व्याकरणाचार्य का इस विषय का लेख जैन सिद्धान्त भास्कर भाग २ कि १ २। ३ अनकान्तिक सव्यभिचार।—न्यायसू १ २ ५।
४ विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिक।—परीक्षामुख ६ ३ । ५ देखें शिलालख न १ ५ (२२४) शिलालेख संग्रह पृ २ । ६ देखें नयनन्दिका सुदंसणचरिउ। ७ देखें प्रमेयकमल मार्त्तण्ड तथा प्रमेयरत्नमाला।

लिखा है।[1] प्रभाचन्द्र और अनन्तवीर्य जैसे उनके समर्थ टीकाकार तो उनकी प्रशंसा करते हुए नहीं अघाते हैं। प्रभाचन्द्र कहते हैं[2] कि उनके चरणप्रसाद से ही उन्हें जैन न्यायशास्त्र तथा अजैनन्याय शास्त्रका ज्ञान हुआ है जिसके वे समुद्र हैं। अनन्तवीर्य नमो माणिक्यनन्दिने' जैसे सम्मान-सूचक शब्दो द्वारा उनके प्रति अत्यधिक आदर एव श्रद्धा व्यक्त करते हैं।[3] इससे मालूम पडता है कि माणिक्यनन्द तर्कशास्त्र के पण्डित तो थे ही अन्य शास्त्रो के भी वे ममज्ञ थ।

इनका समय प्रो दरबारीलाल जी कोठियाने ऊहापोह के साथ विक्रम की ११ वी शताब्दी (ई सन् १ २८) निर्णीत किया है और अनेक आधारो से माणिक्यनन्दि और उनके आद्य टीकाकार प्रभाचन्द्र मे गुरु शिष्य का सम्बन्ध सिद्ध किया है।[4]

●

भगवान् महावीर का दिव्य दर्शन

श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

साहित्य दर्शनाचार्य राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

[इस ससार का कर्त्ता काई नहीं है और न किसी के द्वारा इसका मूलतः उच्छेद ही हा सकता है। परिवर्त्तनशीलता के कारण ही इसका संसार' यह नाम पड़ा है]

मिट्टी से घड़ा बनता है और फिर वही घडा कालान्तर में मिट्टी के रूप मे परिणत हो जाता है। इसी प्रकार यह ससार परिणमन या परिवर्त्तनशील है। किन्तु साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि ससार मे परिवर्त्तनशीलतारूप गुण के बावजूद अनादित्व और अन तत्व भी है। इस संसार का कर्त्ता कोई नही है और न किसी के द्वारा इसका मूलत उच्छेद ही हो सकता है। परिवत्तनशीलता के कारण ही इसका ससार (संसरतीति) नाम पडा है।

उपरिविध संसार का रचना जीव और अजीव इन दो तत्त्वो के संमिश्रण से हुई है। चतन्य जीवात्मक होता है। इसका अशद्ध और शद्ध रूप से दो प्रकार का परिणमन होता है। जीव का अजीव के साथ संबंध अनादिकालीन है अतएव वह विकारी होता है। यो तो सोना शद्ध और दीप्तिमान् है किन्तु खान से निकलते समय खनिज मल (किट्ट कालिमा आदि) से युक्त

---

१ देखो नयनन्दिका सुदं सणचरिउ। २ देखो प्रमेयकमलमार्त्तण्डके आदि व अन्तिम प्रशस्ति-पद्य। ३ देखो प्रमेयरत्नमाला कारिका २। ४ देखो प्रो दरबारीलाल कोठिया आप्तपरीक्षा की प्रस्तावना पृष्ठ २९।

रहता है। उसमें शुद्धता और चौमिमत्ता बाद मे आती है। तद्वत् प्रारभ में अजीवाबद्ध जीव आगे जाकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र द्वारा शुद्ध बनता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि परिणति के बावजूद जीव और अजीव का पृथक अस्तित्व सदा एक समान रहता है। जीव कभी अजीव नही हो सकता और न अजीव जीव ही। फिर भी जल मे कमल के समान दोनो एक-दूसरे से लिपटे रहते हैं निरन्तर। अजीव से जीव को मुक्त कराने मे ज्ञान ही एकमात्र समर्थ होता है। जब तक ज्ञान जीव को अजीव की अनथकारिता की ओर से सावधान नही करता तब तक वह अजीव से लिपटा रहता है और लिपटता ही चला जाता है। इस विषय को सोदाहरण इस प्रकार समझा जा सकता है कि जसे मनुष्य मदिराजन्य आवेश में इतना विकृतज्ञान हो जाता है कि वह अपने आत्मीयो को अच्छी तरह पहचान नही पाता वसे ही अनादिकाल से अजीव के सम्पक ने जीव पर ऐसा गहरा रग जमा रखा है कि उसके द्वारा अपना असली चैतन्य रूप समझ पाना मुश्किल है और न यही अनुभव कर पाना सम्भव है कि अजीव से मेरा अस्तित्व सवथा पाथक्ययुक्त है।

अजीव पाँच प्रकार का होता है—पुदगल धम अधर्म आकाश और काल। इन पाचों मे पुदगल के अतिरिक्त शेष चार अमूत्त अतएव अनुभवगम्य है। पुद्गल मूत्त अतएव रूपरसग ध स्पर्शात्मक होता है। जीव और पाच प्रकार के अजीव ये छह द्रव्य अनादित परिणमनशील है। थाडा फर्क यह है कि धम अधम आकाश और काल इन चार द्रव्यो का परिणमन अपने स्वभाव के अनुकूल ही होता है इनका वैकारिक परिणमन नही होता है।

कहा जा चुका है कि जीव और अजीव का वकारिक परिणमन ही ससार शब्द से सज्ञित है। इसे यो समझिए कि चूने का रग उजला है और हल्दी का रग पीला। किन्तु दोना पदार्थों को मिला देने पर उनका रग लाल हा जाता है। अ पज्ञान व्यक्ति यह नही समझता कि यह लाल रग दो पदार्थों के सम्मिश्रण से बना है कि तु दाना तत्वा का ज्ञान रखनेवाला रासायनिक व्यक्ति उक्त लाल रग को देखते ही झटिति कह देगा कि यह लाल रग हल्दी और चूने का सम्मिश्रित परिणमन है किसी एक पदाथ का यह रग नही है। ठीक इसी प्रकार संसार का केवल जीवात्मक नही कहा जा सकता और न कवल अजीवात्मक ही। जीव और अजीव का सम्मिश्रित परिणमन ही संसार कहा जा सकता है। पुद्गल के परिणमन का ही यह फल है कि जीव केवल ज्ञाता और द्रष्टा ही नही होता वरन् वह अनुभूतिशाल भी होता है। पुद्गल के सयोग से ही जीव मे राग द्वष मोह आदि विकार उत्पन्न होते है और वह अजीव को भी अपना मानकर उसके वियाग मे सुख दुख आदि का अनुभव करता है।

अजीव की तुलना मधु से लिपटी तलवार से की जाती है। जीव जब तक अज्ञानावस्था मे रहता है तब तक उसे अजीव मधुमय मालूम होता है उसकी अन्त स्थिति भयकर घातकता की ओर उस जीव की दृष्टि जाती ही नही। किन्तु जब जीव को साधना द्वारा क्रमश रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र की प्राप्ति हो जाती है अत अपने स्व रूप से पर मे भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगती है अत अपने स्व रूप के ज्ञान को ही स्वसंवेदन ज्ञान या सम्यग्दर्शन कहते हैं। बिना सम्यगदशन के सत्य का आलोक मिलना सम्भव नही।

जीव को जब सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब अजीव के प्रति उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। मिथ्या आलोक मे पडा हुआ जीव जिन वषयिक सुखो का सही मानता रहता है सत्य

के आलोक से उद्बिद्ध होने पर उसी जीव की वैषयिक सुखों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रह जाती एवं न उन्हें वह अपना ही मानता है। इसी विवेक का नाम सम्यग्ज्ञान है।

उक्त सम्यगज्ञान के प्राप्त कर लेने के बाद क्रमश' जीव के मन में सांसारिक पदार्थों के प्रति लालसा तक भी नहीं रहती। ऐसी स्थिति में जीव यथासम्भव सांसारिक विषय का सेवन कतई नहीं करता यदि सेवन करता भी है तो उसका यह विवेक सदा जागरूक रहता है कि ये भोग मेरे कर्म-रोग की प्रतिक्रियामात्र है। और वह इनसे सर्वदा मुक्त होने को उन्मन बना रहता है। इस विषय की स्पष्टता के लिए यह उदाहरण अनुकूल होगा कि जैसे जेलखाने में बन्द कैदी अनेक प्रकार के कपड़े तैयार करता है परन्तु वह समझता है कि ये कपड़े मेरे उपयोग मे आने को नहीं ये तो किसी दूसरे के लिए है। मुझे तो इन कपडों को जेलर की आज्ञा से बनाना पड रहा है। यदि मैं इस कदखाने से मुक्ति पाऊँ तभी अपने लिए वस्त्रोपयोग मे लग सकता हूँ। अभी तो मैं केवल जेल के नियमो का पालन मात्र कर रहा हूँ। ठीक इसी प्रकार विवेकी जीव सासारिक कार्यों का सम्पादन करता हुआ सदा यही समझता है कि यह सब उपाधि-मात्र है इससे छुटकारा मिलने पर ही अपने स्व रूप को प्राप्त किया जा सकता है। फलत जीव से जहाँ तक हो सकता है भरसक वह अपने इद्रिय और मन पर नियन्त्रण रखता है। सच्चे अथ मे इद्रिय और मन के रोकने को ही सम्यक चारित्र कहा जाता है।

उक्त रत्नत्रय का आशिक प्रकाश जबतक जीव को मिलता रहता है तबतक वह स्वरूपज्ञान मे तत्पर रहता है और जब रत्नत्रय का पूर्ण विकास हो जाता है तब वह जीव अजीव से अपने को बिलकुल अलग कर शद्ध परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। यहाँ एक बात अविस्मरणीय है कि प्रत्येक जीव मे परमात्मा बनने की शक्ति निहित है। आत्मा (जीव) ही अपनी साधनाओ द्वारा परमात्मा बनती है। यदि किसी का नाम ईश्वर' है तो वह शद्धात्मा ही है। अशद्धात्मा का नाम संसारी या जीव है। यही कारण है कि अनन्त तपस्साधनो द्वारा अपनी आत्मा को भावित कर लेने के कारण ही भूतपूव सांसारिक जीव भविष्य मे एक ही जीवन मे तीर्थंकर या ईश्वर बन गये। इसीलिए तीर्थंकरो को नमस्कार करने वाले उनसे किसी कृपा की प्राप्ति नहीं चाहते वरन् उन्होने जो गुण प्राप्त किये हो उन्ही की उपलब्धि उनका अभीष्ट है। गृद्धपिच्छाचार्य विरचित तत्वार्थसूत्र की वृत्ति मे मंगलाचरण करते हुए आचाय पूज्यपाद ने इसी पर कहा है –

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तार कर्मभभृताम्।
ज्ञातार विश्वतत्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अथवा श्रीमदकलङ्कदेवाचार्य विरचित लघीयस्त्रय का यह मंगलश्लोक द्रष्टव्य है —

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नम।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्य स्वात्मोपलब्धये॥

अब फिर संसार-सर्जना का जहाँ तक प्रश्न है पुद्गल (जडद्रव्य) के अनेक रूपो में परिणमन ही इसका मूल कारण है। स्पष्ट यह कि पुदगल ही, अनेक आकृतियो में परिवर्तित होकर संसार की रचना करते हैं। वस्तुत' प्रत्येक द्रव्य बहिरंग और अन्तरंग दोनो रूपों से पर्यायात्मक होता है। गेहूँ यदि द्रव्य है तो रोटी उसका पर्याय माना गया है। अर्थात् गेहूँ में रोटी बनने की शक्ति निहित

है। अनेकान्त (स्याद्वाद) की दृष्टि से गेहूँ न केवल गेहूँ है वरन् रोटी भी है। इसलिए रोटी न केवल रोटी वरन् गेहूँ भी है। अतएव गेहूँ गेहूँ भी है, रोटी भी है। रोटी रोटी भी है गेहूँ भी है। यही कारण है कि शक्ति की दृष्टि से गेहूँ मे रोटीपन अनादि है। गहूँ मे रोटी बनाने की शक्ति किसी के द्वारा पैदा नही की गई और न किसी से गहूँ की रोटी बनने की शक्ति छीनी जा सकती है। हाँ कोई इतना अवश्य कर सकता है कि गहूँ मे शक्ति-रूप से रहनेवाले रोटीपन को विकसित कर पूआ बना ले या और कोई पक्वान्न तयार कर ले। अत निस्सदेह पुद्गल का यह परिवत्तनवाद ही सांसारिक सृष्टि का रहस्य है। संसारी जाव पुदगल के उक्तविध परिणमन काय के निमित्तमात्र हैं नैमित्तिक या कर्त्ता नही। जीव का यह अज्ञान ही है कि वह अपने को पुद्गल परिणमन का विधाता मान बठता है।

दही और गुड को मिला देने पर केवल दही या केवल गुड का ही अलग स्वाद लेना कठिन है। स्वाद लेनेवाला इस उलझन मे पड जाता है कि यह दही है या गुड है। जीवाजावात्मक द्रव्य भी इसी प्रकार अत्यन्त ही उलझनदार है। इसी मे ससारो जीव अपन स्व रूप को भूलकर पर द्रव्यो से उलझा रहता है। और यह उसी उलझन या अज्ञता का फल है कि जीव ससार के सभा पदार्थों में इष्ट और अनिष्ट की कल्पना करते हैं एव इस कल्पना के जाल मे मकडी की तरह उलझ जाते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक उदाहरण है कि मकडी जाल को तो स्वय बनाती है परन्तु जब वह स्वय निर्मित जाल मे फँस जाती है तब वह उससे निकलने मे सवथा असमथ हो जाती है। ऐसी अवस्था से वह यह असलियत एकदम भूल जाती है कि इस जाल को जब मैंन स्वय बनाया है तब इसे तोडकर भी निकल भाग सकती हू। ठीक इसी प्रकार जीव अपना कल्पनाओ से जिस ससार का सिरजता उससे स्वयं निकल भी सकता है फिर भी अपनी अनन्त शक्ति को भूलकर अपने कल्पना लोक में लिपटा हुआ लटका रहता है। दिनानुदिन वृद्धिङ्गत स्व निर्मित संसारासक्ति जीव को इस प्रकार विवकभ्रष्ट कर देती है कि वह अपन ऐन्द्रिय विषयो को सर्वाधिक महत्व देन लगता है। यहाँ तक कि महल मकान हाथी घोड स्त्री पुत्र धन दौलत इत्यादि अप्रत्याशित विपत्तियाँ अनजाने मोल ले लेता है और तब फिर इनके व्यामोह मे उसकी उन्मुक्ति असम्भव-सी हो जाती है।

जीव को उक्त कल्पना लोक की असारता तब मालूम होती है जब वह एक शरीर को छोड कर शरीरान्तर मे जाने लगता है। महायात्रा के समय उसे इस असलियत का पता चलता है कि जिन्हे मैंन अपना और प्रिय समझा और जिनके प्रति तत्त्व चिन्तन की उपेक्षाकर आसक्त रहा वे मुझे अब अपने से अलग कर रहे हैं। कितने अशुद्ध जीव तो महायात्रा के समय भी मोहाविष्ट रहते हैं। वे यह सोचते हैं कि मेरे बाद मेरे बन्धुजन मेरी सम्पत्ति का उपयोग करेंगे। अस्तु

रत्नत्रय-सम्पन्न तीर्थंकरो की दृष्टि मे वही जीव शुद्ध है जो अपन आपको स्वतत्र मानता है और प्रत्येक जीव को भी स्वतन्त्र समझता है। तत्त्वत कोई जीव किसी का नही होता और न कोई दूसरा ही जीव अपना बन सकता है। स्व और पर की भावना तो पुद्गल के पर्यायक्रम से उत्पन्न होनेवाली मिथ्या भ्रान्ति है। जीव अपने उक्त पर्याय (स्त्री पुत्र आदि) से तभी मुक्त हो सकता है जब वह अपने विवेक से सुबुद्धि पाकर मुक्ति के हेतु प्रयत्नशील हो जाता है। जीव का विवेक जबतक उद्बुद्ध नहीं होता तबतक उसे सत्य का आलोक नही मिल सकता। जीव की आत्मोन्नति आत्मचिन्तन और स्वरूपान्वेषण से ही सम्भव है। सही मानी में जीवत्व प्राप्ति ही जीव का

साध्य है। दूसरे साधन तो केवल उपचार मात्र हैं। जीव को उपासना और कर्मकांड की उतनी ही खुराक चाहिए जितनी से अपने स्व रूप को समझने का अवकाश मिल सके।

जब तक स्व' रूप का ज्ञान नहीं होता तब तक मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। जैन दार्शनिकों ने मोक्ष' की बड़ी विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। संक्षेप मे आत्मा का हित ही मोक्ष' कहा गया है। आत्मा जब कर्म मल कलंक और शरीर को अपने से बिल्कुल अलग कर देती है तब उसके अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञान आदि गुण रूप एवं अव्याबाध सुख रूप जो सर्वथा विलक्षण आत्यन्तिक अवस्था उत्पन्न होती है, उसे ही मोक्ष कहते हैं —

निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति।   —आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि अध्याय १

प्रसंगत ज्ञातव्य है कि सांख्याचार्यों के मत से आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से सदा के लिए मुक्त हो जाना ही मोक्ष है तथापि वे आत्मा के स्वरूप को चैतन्ययुक्त मानते हुए भी उसे ज्ञान रहित मानते है। उनकी मान्यता है कि ज्ञान धर्म प्रकृति का है। उसीके संसर्ग से पुरुष (आत्मा) अपने को ज्ञानवान् अनुभव करता है एवं पुरुष के संसर्ग से प्रकृति अपने को चेतन अनुभव करती है। मोक्ष के संबंध में बौद्धो का विचार है कि दीपक के बुझा देने पर जिस प्रकार वह वहीं शान्त हो जाता है कहीं आगे नहीं जाता तद्वत् आत्मा की सन्तति का अन्त हो जाना ही उसका मोक्ष है। आत्मा की सन्तति पीढ़ी-दर-पीढ़ी नहीं चलती यानी आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता।

फिर भी क्या सांख्य और क्या बौद्ध सब दार्शनिकों ने तत्त्वज्ञान को ही मूलतः मोक्ष का साधन माना है। एक ऐसा भी प्रबल दल है जो केवल नाम-स्मरण को ही भवसागर पार उतरने का प्रधान साधन मानता है। नाम स्मरण का प्रकारान्तर हरिकीर्तन या रामधुन भी है। किन्तु जिस प्रकार रोग का निवारण दवा के स्मरण दर्शन आदि एक एक कारण से नहीं हो सकता उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति भी किसी एक के द्वारा कभी सम्भव नहीं वरन् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनो की प्राप्ति से ही मोक्ष सम्भव है। इसीलिए आचार्य गृद्धपृच्छ ने तत्त्वार्थसूत्र-ग्रन्थ मे कहा है —

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग। —१ १।

भगवान् महावीर ने अपने दिव्यदर्शन मे इसी मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का महान् संदेश दिया है।

●●●

Although the self has been used in various senses and has varied connotations yet according to Shri Manmathnath Ghosh the word self has been used n only three different senses n the whole f the Philosophical lit rature in the western as well as in the eastern F rstly self occurs in the philosophical systems in the sen e of permanent sp ritual principle of unity underlying feeling and willing Secondly the word self comes in the sense of an aggregate of mental states without any underlying principle of unity amo g them Thirdly the word self appears to denote a conc ete sp rit al unity whi h is not above and beyond th mental ph nomenon viz th nking feel ng and willing but ealises tself in them without loosing its unity and identity in them

Thus accordi g to the first v ew the self s an abstract unitv ccording to second the s lf s a abstr ct plu ality nd acc rd ng t the third self s a concrete unity n plur l ty ide t ty n d ff r nce I oth word self can b i wed f om thre prospectives i ( ) noumenal vi w of th self (b) mpei c l v ew f th lf (c) ide li t view f the self

In o der to d term e th p se me n ng n wh h of the three above senses the self has been sed in J na philo ophy we can y that the self has be ed n J ini m n the f st f the ab ve th ee s s Th t is t y ceord to J in sm s lf pr t l pr nciple h v g f ur f ld perfect on which s k we d joyer s well the hanging tity D sti guist ng more acc rat ly the characteristics of Jiva Achary Nemichandra Sidha ta Chak arti obs ves in the following verse —

जीवो उवप्रोगमग्रो ग्रमुत्तिकत्ता सदेहपरिमाणो ।
भोत्ता ससारत्थो सिद्धो सो विसस्सोड्ढगई ॥ †

m ai s Ji a is char terise by Upayoga is formless and an agent has th same extent f s its wn body is the njoyer (f the fruit of Karma) xhi ts n Samsar is Siddha d ha a hara teristi pw rd motion Acharya Gridh p ksha l def n self n T ttv th sut s utility s the mark f self ‡ or according to P jyapad s co ciousne s the essence of soul (चेतना लक्षणो जीव) Jiv cc p e all tl s ven catag ries of the Jain s metaphysics If we deny this spritual pr nc ple the wh le Jain metaphysics falls down l ke the house of cards That is why the self is the beginning round wh ch all others catagories are enc rcled

Jiva is not only the essence of the whole physical world rather it is the essence of whole Jai a philosophy I order to characterise the true nature of the self we can divide the whole of the Jain s opinion in two broad classifications

---

† Dravya Samgrah gatha no. 2
उपयोगो लक्षणम ।

In order to study the true nature of the self as concieved by the Jaina thinkers It is better to present a comperative concept of self as prevalent in other systems of thought And in this connection we can devide the whole conception broadly under four headings

(a) Materiali tic concept of self

(b Other Indi n systems than Jainism

(c) Connect on of self as found in western ph lo ophers

(d) Psychological concept of self

( ) Ge erally all the materialists are greed on this p int that there is no seperate eternal conc ption of s lf other than th s phy ical body Soul is just the by product of different mate i listic atoms The well known ancient greek philosopher Democrites cons de ed th soul to be composed of fi al smoother und atom Huxley cons ders soul s a ep phenomenon of the brain a d for h m all the ment l tat s or processes are merely occasioned by products of th physical p oce of the brai Ev r Hobb in the west and Carvakas in the e st are the supp rters of the bove view The Carvakas even go to the extent n the s y ng that soul is nothing but the li ing body qualif ed by c c usness (चतन्यविशिष्टदेह एव भात्मा) Just as fi mented rice molashes a e riginally non ntoxicated become intox cant when allowed to fi ment As we f nd in the following ver e of th C rvak sa thi

चतुभ्य खलु भतेभ्य चतन्यमुपजायते ।
किण्वादिभ्यो हि सर्वेभ्य द्रव्येभ्य मदशक्तिवत ॥

(b) The c nception of self as fo nd in Ind an philosophies other than Jaini m se ms t be f diverse nature But for convenience we can devide the whole opinion under three broad headings

(1) Nihilist c or emp al c ception of self and in this heading we may refer to Buddhistic co c pt of self H has ferred t uch q estions as indetern inate or भ्रव्यक्तानि ।

But later on the followers of Buddha in order to stablish the doctrine of momentariness or क्षणिकवाद identified the self with the changing reality And what was denied by Buddha was restored again by his deciples like Shaatrakshit and Dharmakirti As Shantarakshit calls self even विशुद्धात्मा and Dharm kirti also says that t ue knowledge consists in the realisation of pureself (विशुद्धात्मा दर्शनम) ।

(2) We also find the realistic concept of self in Indian philosophical systems by the supporters of Nyayavais esika and Mimanskas Nyaya and Vaises ka school present a peculiar thought regarding the nature of self. Even they say that soul is a unique substance to which all cognitions, feelings

mind All the prominent schools of psychology like Behaviourism Gestatistsx and Animistic theory of Mc Dugall and in the Freudian theory we do not find any seperate conception f the self apart from the brain activity But in the higher psychology popularly known as parapsychology or psychical research we find modern psychologyst like Stern Dilthy Alport Spranger etc are attempting to b ild up a science of personality Alexis ca rel the novel prizewinner sc entist demands that attent on sh uld be focussed on the soul of man

Thus acc rding t Ja ism soul is a concious substance It is the soul that knows things pe f rms activities e joys pleasure suffe s pa n and illumines tself d other objects The soul is etern l but t also und rg es change of tates

Owing to the ncl nati n ge erated by it past acti ns a so l co nes to inl ab t in differe t bodie ccessi ly The soul is p esent th oughout tl e ent e b dy nd m kes it conciou

Th so l s inher ntly p rfect It h s inf nite potenti lit es within In its or g n l state tl e oul poss ss s fourfold perfect on called अनन्त चतुष्टय m terial p t l wl p trate in the soul e p we these fourfold perfections n th w d th d v d l s ul is lim t d be a s it is associated w th the m ter al b dv The body i m de of material particle called पुद्गल Soul s ss ci t n with m te al part les s alled bondage Soul s own pa s on ttract materi l part cl s fo w rd it These p ss ons क्रोध मान माया and लोभ re gene r ted n th soul because of the ka ma The power of so l when fully de eloped s inf itely st o g In the beg nning it has very limited power a d that why power is gr d lly d v lop d t unlim ted deg ee i st ength unde these cumstances karmic powers of the soul In this way the soul finds tself n bond ge

A ord g t J n s bondage means association of the soul with matter and theref re the liberation w ll mean the complete d ssociati n of the soul from matter That can be attai ed in two ways by stopping the influx of main m tters to the soul and secondly by c mplete illumination of the matter with which the soul has become already mingled This is possible by attaining right onvictions i e right faith right knowledge and right conduct (सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः ।)

●●●

CAN JAINISM STOP WAR ?

Prof Diwarkar Pathak

[Prof Pathak s article on Can Jainism stop war ? was too large Due to some difficulties we have given a net summary of his article —Editors]

We are pass ng through an age f cris and the atmosphere is as hostle to peace today as it becomes when war actu lly comes

It is true that w r is not an evil i itself Its aim s n t bad It is necessary t oot out the brevail ng di de chaos a d n ch sm The scriptures are the best te timony of the f ct that w r is go d n tself when its aim i human welf re when it respects huma pers n l ty then the war i pe missible

But today th wh l aim nd s tuat o h s ch ged. The aim of pr se t war s to acq re m la d m e wealth Th s becaus with the sc entif c de elopment one s own mind h cl a ged E en the techn ique of wa has tak n a drast c change w th the man fact r ng f Atom b mb and hyd o n bomb To day th war is not limited to soldie s It i t l l ed otl e Wh l wo ld s invol ed n t Hence the whole humanity is n th rage of tot l a nihilation

In this tate of potenti l m s destructio th ny way o t to check this ruin ? Ja n sm t ll al v a d b d g it ubl m m s g f violence (Ahims) l ve d n c llecting attitud The dopt n f thes messages can certa nly top the war

We are all human and so we must l e each and ll J n sm h s alw y bee bro dcast ng this mes age f l When we love e ch nd all there is no question of conflict and hat ed H nce n wa by l g all We can live n peace

There is also a negati e approach of Ja sm that non le e Ahimsa which are as much cap ble f sto ping war as nythi g els Thi s the central theme of Ja n sm which it has been preachi g f m time mm m rial

J i ism can st p war if we follow it m ssage of n n c llecting things A man sh uld have th ngs in such quantity which i equired for him and no more None is able to take away one s prope ty with him when he dies He must go empty hand. Hence he must be satisfied with what he has and only then can he attain happiness and a war can be st pped

In short we must change our heart accord n to Jainism We must adopt the prinicple Live and let live and this can be we follow The message of Jainism which will ultimately lead us to a state f peace and can save the suffering humanity from the coming war like situation

●●●

The Conception Of Godhead in Jainism

Prof. Rai Ashwini Kumar,

Magadh University

Jainism holds that the Divinity is nothing but the culmination of the spiritual development of the soul. Each soul is a potential God But God in Jainism is not a Creative agency Nor is He Capable to grant rewards and punisments to the individual beings

Of all the subjects cf philosophical discourse that have coloured the cultural life of I dia from the earliest stages of her h story that of God occup es a prominent place People profess ng all giance to different faiths agree in regarding God n some f rm or othe as the source of their inspiration a d guiding principle of their life They hold that in the experience of or contact with God lies the only assuageme t of human un est But the different systems of Indian thought are not unanimous as regards the conception of Godh ad Jainism holds that the Divinity is nothing but the culmination of the spiritual development of the soul Each soul is a potential God. But God in Jainism is not a creative agency Nor is He capable to grant rewards and pu ishments to the i dividual b ngs Nor is eve y God capable to reveal and effectively preach the Truth Only a select few can do this Let us now see how Jainism works out the details

Ja nism pre eminently stands for Atman theory and like the other systems of Indian thought puts stress on self realization According to the Jainas the soul is pure and perfect in its intrinsic nature It possesses a number of characteristic attributes while it is in all perfection Mundane souls are not perfect because their innate qualities are found to be obscured and di torted This obscuration and distortion find expression in the imperfect existence of the soul These souls are not free to enjoy perfect knowledge and unrestricted bliss and unlimited power Why is it so ? What cripples and distorts their innate faculty of knowledge etc ? the Jaina philosopher answers that the various characteristic attributes of the soul are infected by something foreign which covers their innate natural faculties their perfection and purity This foreign element is nothing but karman. According to the Jaina conception karman is an aggregate of material particles which are very fine and are imperceptible to the senses. It enters into the soul and produces changes in

1. Jainism is polytheistic.

it. The karmic matter obscures as well as d storts the natural characteristics of the soul and keeps it away from ts Supreme st te of existence In the state of bondage the soul is inseparably mixed up w th the matter They are more intimate than milk and water Our worldly status s wholly d pend nt upon the karman The world contains a infin t n mber of s uls

Atman accord ng t the Ja nas migr ting entity f sent ent tuff associated with Karm ene gy s e te n ty a d the t sm g tory destiny of each being determined by ts k man K m n makes tl soul wonder in different grad s f e i te The J nas d t ng sh thr st tes f the self the principle of lif —the exte io self the nte io elf d th Sup eme self The self with the deluded belief th t t no e other than the body s the exterior self The self th t clarly d c im te it elf f m th body and th sense—organs s the nteri r self the p a d pe f et s lf free f m all lim t t n the Supreme self the exte lf b m s th S pr m self by m s f the interior self O oth r w ds t the int nal by l ng veryth ng exte nal th t be m s th Supr m On g t d f th t rior a much as the exterior elf n orde to al e the S p me elf H s n igno m wh t kes th b dy f r th so l Tl materi l st v ew of th self as dent cal w th th body i the fi t th g th t t r d te n o d t tr ad the p th of pir t l ealizat on T a l ev th p rpo e o req r d t t n n rd and con t t up n the lf d t t nd s p rat fr m tl e b dy When ne is fully convinc d of tl e d t ct between the lf d ot lf n i equired to se st ll high r d c n e t ate p a d real ze the Sup Atman wh ch s f ee fr m ll l m t t o s f th mp l lf When karm c matter is severed from the oul th gh pe n s med dati t ts tr migratory journey come to top Whe tl i u l m tations created by the k rma s are removed and the e l at f th s l e I d there s resc e there is liberation All the i n t powe s of the so l are ma fested n l be at Now th soul b come S p r-Atm (P m tman) The soul himself i Pa ama tman di inity is al eady the i on self b t he rem ins as Atm o ly because of karmic l mitat o s as s o as Atman s realiz d by himself he is Paramatm n In vi w of the r esse ti l natu the oul and th P matman are ne and the same Really speaking there s o diffe n e betwee the two Acc rding to J nism P r m tman is a Super sp rit representing the ultimate point of spi tual evolution f Atman by gradual dest uction of karman Paramatman enjoys ideal isolation a d he has nothing t do with the world beyond that l e knows nd s es it becau e it is his nature to see and to know thus Paramatman stands for God though never creator etc Jainism denies the creative funct on f God

Jainism is polytheist Each soul i a potential God God is latent in every soul. It is his ultimate essence and reality Other things such as his

emotional and volitional complexes, intellectual and moral equipments, are only the excrescences generated by the impact of external forces Atman to Paramatman is a course of spiritual evolution and it is the duty of every aspiring soul to see th t it reaches the stage of Paramatman The individual soul can transcend his lim tation and become Paramatman Jainism believes in the soul s Capacity to recover its essential nature after a course of moral discipline and philosophical enlightenment The soul passes through a number of stages while reacl ing from the lowest to the highest stage of spiritual development The man only o complete purification from matter attains Siddhi Siddhi is open to all The soul has nhere t capacity for ema cipation But this capacity rema n only a dormant virtue and inactive force unless and until it gets an opportunity for expression There are certain spiritual impulses that good the soul to f lfil ts mission and real ze the soul The soul wh ch lies in sp itual slumber is roused to ct ve spiritual exertion when it s rem nded of the great mission that t has to fulfil and realize According to the Jainas th reminder sometimes c mes from the exhortat ons of those who have realized the truth and reve led t to the common masses Or sometimes the soul gets h ld of the truth automatically without any extraneous help The inspiration should come f om within The Jain s do not believe in any eternal revelation of truth no in the revelation f truth by God The Jainas believe only in the inherent c pa ity of the soul t realize the truth even in the absence of any foreign interference or instruction But the Capacity to reveal and effectively p ach th t uth however does not belong to all the enlightened and omnisci-ent souls In this connection there ccurs pertinent question Why of all the souls whic a e gifted alike a particular soul and ot every one attains to this ph se of pe fection Siddhi open to all the awakened souls but the capacity to re eal and effectively preach the truth is reser ed for a select few only What the special qualifications of these few are and how they were originally aequred Here th Jaina philosopher comes to offer a solution There are some awakened souls who are n turally inclined towards universal well being As soon as they expericence the first dawn of enlightenment on the annihilation of the Gordian Knot (granthi) they mak determination to redeem the world from its suffering by means of the enlightenment and work strenuously in accordance with the determination + Those rare souls by their morald and virtuous activities† of the past life acquire the potency of revealing the truth and estab lishing a religious Community (Tirthakrttva) Such souls on the attainment of omniscience become capable of revealing the truth and preaching it to the world at large These souls become Tirthankaras founders of religious community They are the embodiment of the best and the highest

\+ Yogabindu Haribhadra 284-8

† Tattvarthasutra VI 23

Virtues that the human mind an conceive f the fullest expression of the potentialities of embodied existence The T rtha karas to whom all the godly powers like omniscience etc belong e d r d s ide ls of life The aspirants recall to mind for their own e couragement nd edification that there are and always have been those who ded cat g them el es to the full realization of the Truth the Path t Deli eranc nd nestly stri i g have eached the goal of their search the radicat on of g ed hat d and delusion Thereby they are exemplars of the G d Li e well cond cted pright of blameless behaviour worthy f hon ur nd spect o thy f be ng looked up to and followed The Tirthankara s the symt l f ll th t s go d and great mo al and virtuous He cleans s th ld w th th good s a d th sanct ty of h s life avoiding evil pr mot ng g od fill ng th u e with elevati g thoughts of fr endliness c mpassion nd pe ce He ser s as bea on l ght and has nothing to do with C eatio pr t t d d str ct o of th world Tl e Jainas do n t bel ve in tl fe t f G d G d ord ng t tl m is not in any sense respo s ble f th dest y f th in se the dividual N r is capabl of grant ng gra t any ndi d l T t the pirit of th ir philosopher the Ja n affi m tl el f tl in th ete nal p t l d m al laws part cularly in th i exor bl m r l l w of K rm They as e t that these law are i v ol ble n th ope ti n d G d c n t b t ily disp nse rewards and punishments spect e of th sp t l desert of the pe sons and His e ercis f th jurist c f ncti n is l mited by the m ral law God cannot lter its urs as that will mak f God d pot Th m ral law r tl e laws of H s n being whicl H C n t b e t S e th e th J in ay wh bel ve G d p r t o of the mo l law must believe that this law is n impers al unc ted t n l gover g princ pl therefore it is rat onal they ay t cc d One s alleg an e to this utonomous imperson l law The injunct n f the Jaina cript res s that the ndi du l sh uld set hims lf to the task of ov r om ng tl iiseri f tl e w ld by dint of pers nal efforts nd w thout seeking id fr m any exte n l agent uch as God for the purpose The J inas adm t the eff cacy of i d vidual deserts in determining individual fat They make the ndividual the rchitect of their fortune and the maker of their destiny Th ndi idual beings alone responsible for their degraded status and it s up to them t work out their salvation by their unaided efforts. They will f Course explo t ll the advantages from the Scriptures and the instruct on f teacher But ultimately they must depend upon themselves for their succes or failur The C ed t or blame must be taken by them alone The Jaina therefore d ot find any urge to postulate any supernatural agency like God as the dispe er of reward and retribution It is Karman alone whicl f ctuates nd det m n s th Course of an individual through d fferent bi ths

The Nyaya-Vaisesika postulates God to account for the effective functioning of the law of moral justice. The spiritual and moral forces, meritorious and demeritorious are brute facts and they can be made productive of reward or punishment only by an intelligent agent by bringing them into operation. But according to the Jainas there is no necessity of admitting God as the necessary condition for the fruition of the Karman which remains as an unseen potency (adrsta) consisting in merit and demerit in the soul. The Jaina philosophers hold that events come into being by dint of the causal law which is a natural brute force independently of the agcney of au intelligent being. They assert that moral and Spiritual laws are effective just like the brute laws of nature by reason of an inherent natural necessity They do not therefore consider the theory of intelligent supervision and personal operation of moral laws by a divine being as logically n cessary The Jaina like the Sankhya Yoga the Bu ldl ist and the Mimamsaka regards the unseen potency itself as competent to produce its fruit in time The nature of predispositions or the impurity by of the so l determi es the character of the Karm n or adrsta The Karma or adrsta as determined by the conditions and predispositions of the soul can automatically pr duce the fruits The karman or adrsta has nherent capacity to fructify itself Thus is voided by the Jainas the necessity of the agency of God for the fruition of Karman

All admit that tl e ills and ev ls of life are the outcome of karman and ot d ie to ny Capr ce of the creator If t is so asks the J ina philosopher then what is it that God does Why should we prefer t indulge in such com pl x ties ? Let Karman alone acc unt f r the c eation of the world It has no agent behind directi g it r administering it The Yoga system admits God only as an object of wor hip or meditation and not as an agent in the fruition of the k rman though in tl e Brahmasutra of Badarayana the agency of God in the dispen ation of the fr t of acts moral and immoral is advocated w th vehem nce t however loses metaphysical val d ty in the ph losophy of Sankara wl o ccords a provis onal place to Personal God in his Vedanta Personal God as the creator sustainer and destroyer of the world-order is necessary only so long as maya holds sway But maya is unreal as a metaphysical entity and as such God s place is only provisional and not more than penultimate. God, accord ng to the yoga system also who is a Supreme person is not considered to b the creator of the universe He is omniscient and eternal witness to all r ght actions. Tirthankara of the Jainas, too is omniscient but not the creator of the universe. Herein the Jaina philosophy marks a stricking par allelism to yoga theism But according to the Nyaya Vais'esika God is a dynamic principle and His dynamism is manifested in His cosmic activities Cosmic activities are an essential part of His being and Godhood minus Cosmic functions is an unintelligible fiction. Desire for creation is innate to divine

only for guidance and inspitarion By meditating on the pure qualities of the liberated ones the Jainas remind themselves of the possibility of attaining the high destiny and strengthen their heart for the uphill journey to liberation. This shows that the aspiring soul has transcended his attachment to the world and this is the condition of emancipation. The devotee must immolate his individuality before the alter of God This is the highest dispassion which is affirmed to be the necessary precondition of emancipation thus the individual soul attains the Supreme Status only by dint of his p rsonal effort and does not depend upon the g a e of God.

Thus each and every individual must work out his own sal at on No one is considered to be eternally free and perfect Even God is not eternally free and perfect Eternal perfection attributed generally to God by other systems the Jainas say s a meaningless ep thet Perfection therefore means only a remov l of imperfection and it is meaningless to Call a being perfect who was never mperfect Even the Tirthankara himself is not eternally free and perfect and has worked out his wn emancipat on exactly in the same way as the other ind vidu l be ngs d The difference between an ordinary omniscient and a T th nk a s th s that th l tter c eveal nd p each the truth and f und a religious c mmunity while th former cannot The worldly career of a soul d tined t b Tirtl nkara is purer nd much more spiritually elevated than th t f a ord nary ul destined to be emancipated Moreover a soul can attai Siddhahood witho t being a Tirthankara Every T rthankara becomes a Siddha but not that every S ddha was a Tirthankara Tirthankara in his life j t pr cedi g liberation where he becomes a Siddha devotes some of his tim to teach the path of liberat on to the aspiring souls The Tirthankara is a piritual leader and an inspire and a reviver or founder of a religion It is the Tirthankara alone who can reveal the truth and inspire the common masses that is why the world of aspirants feels more devotion to Tirthankaras This is the conception of Godhead in Jainism

Jainism thus is a religion without belief in Personal God To the followers of Semitic creeds it may appear almost paradoxical that there may de religion without belief in God Quite strange though it may seem at first it is not irrational i any sense A religion worth the name must believe in the Conservation of moral values Even God s omnipotence is subject to the supremacy of the moral law Hence disbelief in God does not mean that Jainism has no regard for moral values. Whatsoever religion it may be it must recognize moral values If it does believe in the spiritual development of the soul Here the question of belief in God is not relevant Here is Jainism one of the great religions of India which is found characterised by the same fervour of faith of its followers as is the characteristic of theistic religions. Would it thus be pertinent to remark that a religion is preposterous nonsense without belief in God ?

Jain Philosophy of Non-absolutism & Omniscience

Prof Ram Jee Singh

Bhag lp Univer ity

In Jainism non absolutism is not only a metaphysical but also are epistemological Concept There is no absolute reality so there is no obsolute truth where there is isolation there is unreality or error

1 IS NON ABSOLUTISM ABSOLUTE ? If non absolutism i absolute it is not univers l since there is one real which is absolut and if o abso lutism s itself n n abs lut t t an ab l te But the e are the following poi ts fo cons deratio –

(a) According to the Jainas complete judgment is the object of valid knowledge (PRAMANA) nd Incomplet J dgement s the obje t of aspectal knowledge (NAYA) Hence the n b ol t is constituted f the absolut its elements and as uch would not be possible if there were o absol te

(b) The uncondit o ality in the statem nt All tatements are co dit onal is juite diffe t from th orm l m g of uncond tion l ty This is like the idea in tl e sentence I m undec ded wher there s at least on decision th t I am undecided Similarly the cat gorical ty beh nd a d sjunctive judgment (A man s either good r bad) 2 is ot like the c t go ic lity f an o dinary categ rical judgment (The horse is red)

(c) Samantabhadra says Even the doctrine of on absolutism can be interpreted eithe as absol te or n n ab ol te acc rding to the PRAMANA or NAYA respectively Tl is means that ven the doctrine of non ab olut sm is not absolute unconditionality 3

---

1 Mookerje S THE JAINA PHILOSOPHY OF NON ABSOLUTISM Bharti Mahavidyalaya Calcutta 1944 P 171

2 Bradley F H THE PRINCIPLES OF LOGIC Oxford 2nd Ed VOL I P 130

3 SAMANTABHADRA SVAYAMBHU STOTRA K 103 Vira Seva Mandir Sarsawa 1951 P 67 and Abhidharma Bhusana NYAYA DIPIKA Vira Seva Mandir Sar awa 1945 pp 128 129 (Ed Darbarilal K thia)

(d) However to avoid the fallacy of infinite regress, the Jainas distinguish between valid (SAMYAK ANEKANTA) and invalid non-absolute (Mithya Anekanta) 4.

Like an invalid absolute judgment an invalid non absolute judgment too is invalid To be Valid ANEKANTA must not be absolute but always relative In short the doctrine of non absoluti m is an opposite (theory) of EKANTA-VADA a one-sided exposition irrespective of other view points 5

Now we annot say that theory of relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute 6 Thought is not mere distinction but also relation Everything is possible only in relation to and as distinct from others and the Law of Contradiction is the negat ve aspect of the law of identity Under these circumstances it is not legitimate to hold that the hypothesis of n abs lute cannot be sustained without the hypothesis f a relative Absolute to be bsolute presupposes a relative some where and n some forms even the relat ve of its non existence

J ina logic of ANEKANTA i b sed not on abstract intellectualism but on experience and realism leading to a non absolutistic attitude of mind Appa a etly contradictory characteristics of real ty re interpreted to be co-existent i the same object f om different points of view without any offence of logic All cognit ons b it of identity or diver ity are after all valid They seem to be contradictory of each other simply because one of them i mistaken to be the whole truth 7 In fact the integrity of truth consist in this very ariety of its aspects within the rational unit of an all comprehensive and ramifying principle 8 The charge of cont adiction againts the co presence of be ng and non being n the real is a figment of a prio i logic 9

2 IS KNOWLEDGE ABSOLUTE ? Absolutism is unknown to Jaina metaphysics nd its metaphysics f knowledge The division of knowledge

4 Samantabhadra APTAMIMAMSA, K 108 Sanatana Jaina Granthamala Kasi 1914 ASTA SAHASRI of Vidyananda Nirnaya sagar Press Bombay, P 290 and NAYAYA-DIPIKA, P 130-31

5 Kapadia T R (Ed) ANEKANTA JAVAPATAKA of Haribhadra G. O. I Baroda 1940 Vol I P Ix (Introd).

6 RadhaKrishnan S INDIAN PHILOSOPHY London 1929 Vol I pp. 305-6

7 Sanghvi, S ; ADVANCED STUDIES IN INDIAN LOGIC & META-PHYSICS Calcutta, 1961 P 19

8 Desai, M ; THE NAYA KARNIKA, Arrah 1915, P 25 (Intr.)

9 Mookerjee S. Ibid P 190 C. F BRAHMA SUTRA (S. B.) II 2.33 and SYADAVADA MANJARI of Mallisena-Verse 25

into immediate and mediate 10 th ugh not free from the fallacy of overlapping division but nevertheless is based on common experience11 However this trend towards non absolutism becomes more explicit in the further classifica tion of knowledg i to PRAMANA (Knowledge of a thing as it is in itself) and NAYA (kn wledge of a th ng in it relation) the former being complete (SAKALADESA) and the l ter being Inc mplet kn owl dge (VIKALADF A) 12

T ue th terms immed ate and mediat are used n di erent senses Jainas deny the immedi te the character of the ordinary perceptual know ledge like the western Rep e ntat on l sts but u lik the Realists The knowledge in d rect or im ned te if t s bo n witho t the help of n external nstrume t different from th self Howe to avoid soph tication ar d also to bring their theory i line with th r d st nct on mad betw ei really immediate and relat ely immedi t th l tt r being mpi cally d r ct and immediate knowledge prod c d by tl s g s nd th m d

PRAMANA and NAVA r p ent o ghly tl absolute nd the relative characteristi f knowledge e pe ti ely PRAMANA e eals l tio l structure of knowledge i e kn wledg f an bj ct n ll its aspects The un ver e is n interrelated whole henc ght knowledg of e n bje t will had to the knowledge of the e ti e universe 13 Thi show tl el t e character of r knowledg b t th s el v ti m s eal t It n t only serts a plural ty of determinat truths b t also t kes each truth to b n d te m n tion of altern tiv truths.14 So t s a mistake of f ndi ig one absolt t t uth or eve one cognition of the pl rality f truths

If knowledge is a unity known i pl r lity the obj t ve c tegory being d st nctio or togetherness If finally knowle g a the obj t refe s to the known the known m st p e ent n qu vale t f this el t on or refere ce 15 What i therefore needed i to dehumanise the ideal and realise the real Th r ality is ot ou ded ready made whole o an abstract un ty f many def ite or determ te spect b t that the o lled unity is after all a manifold being only a name for fundame tally different aspect of truth

---

10 Tattvartha Sutra I 11 12 PARIKSHAMUKHAM of Man kyanandi II I

11 Prasad R His article on A crit cal Study f Jaina Epistemology in JAINA ANTIUARY V l XV No 2 Jan 1949 pp 66-7

12 SARVARTHA SIDDHI f Pujjapada Jnana P tha Kasi pp 20-21

13 ACHARANGA SUTRA I 3 4 122 PRAVACHANA SARA of Ku dakunda I 48 49

14 Bhattacharya K C His art cle on The Jaina Theory of Anekant avada in JAINA ANTIQUARY Vol IX No 1

15 Bhattacharya K C Ibid pp 10 11

which do not make a unity in any sense of the term 16 So far we know or can know the making of truth and reality is one Reality like truth is therefore definite indefinite ANEKANTA Its indefiniteness follows from the inexhaustible reserve of objective reality and its definiteness comes from the fact that it grows up into the reality of our own knowing which we make

So in Jainism non absolutism is not only a metaphysical but also an epistemological concept There is no absolute reality so there is no absolute truth where there is isolation there is un eality or error 17

3 DISTINCTION BETWEEN SYADVADA AND SARVAJNATA —

SYADVADA ho eve pivotal is not tl e fin l truth in Jainism It simply helps us n a rivıng at tl e ultimate truth It works nly in our practical affa rs and hen e t is egarded a practical truth 18 But there is another e lm f t uth which is ot in anyway pa tial or elative but absolute and whi h th ubject matte f mniscient or perfect kr owledge

L t s ll strate som p nts of d ffer nce between these two types of kn eldg SYADVADA nd SARVAJNATA —

(a) The immediate effect f val d knowledge (PRAMANA) is the removal of ign rance the mediat ff t of the absolute knowledge is bliss and equanmity while the mediate effect f p actical knowledge or SVDVADA is the f il ty to sel ct or r ject19 wl at is conducive or not for self realization PRAMANA or JNANA is the right k wledge The development of omnisci e e s necessar l accompanied by that of perfect or absolute happiness 21 being free f m de t u t ve K ma 22 Th s happ ness is independent of e erything and hence tern l It s not phy i al but p itual 23 It is not the pleasu e of the e senses which are i fact miseries in d sguise the cause of bondag and hence dangerous 24

---

16 Bhattacharya H M His article on The J ina Concept of Truth & Reality in the PHILOSOPHICAL QUARTER Y Calcutta Vol III No 3 October

17 (C P) Bradley F H ESSAYS ON TRUTH Reality p 487

18. Sidhsena Divkara SANMATI TARKA 3168

19 NYAYAVATAR of Sidhasena V 28 Apta Mimansa of Samntabhadra pp 104

20 NYAYA-DIPIKA P 9 PRAMANA-MIMANGSA of Hemachandra I 1 2

21 PRAVACANA SARA I 19 I 59 I 69

22, Ibid, I 60

23 Ibid I 65

24 Ibid I 63-64 I 76. CP PARAMATMA-PRAKASA of Yogindu V 201

(b) Both SYADVADA and KEVALAJNANA illumine the whole reality, but the difference between them is that while the former illumines the object indirectly the latter does it directly[25] Vidyananda finds no contradiction between the tw k nds of knowledge since by illum ning the whole reality it means revelation of all the seve atego ies of self not-self etc[26] This shows that the spirit of SYADVADA is foundational to Jainism being assoc at d with he Great Victor that t i gar led as flawless[27] and on almost eq al footing with KEVALAJNANA

(c) while in SYDVADA one knows of ll the objects in SUCCESSION, in the case f KEVALA JNANA it simultan ous[28] Omniscience means an artual d rect non-sensous kn wledge the subj ct matt f wh ch is all the substanees in all their mod fic ti n t all the places and n all the tim s It is ega ded s sim lta e us bec u f it su ce s e it c n ot be mni cie ce since the objects f the w ld n hap of past present nd f tur c n ver b exhausted Con equently knowledge w ll lway ma n c mplet [29]

B t ther m ght be d ffi ult es e e f we r ga d mni cie t kn ledge as imultaneous —

(i) The om iscient pe s n c mprehe ds o trad t ry th g l ke heat a d cold by a simpl c gn tion wl i h se ms ab u ed[30] T th bje t on t may b replied that nt ad t ry th ng l ke l at and c ld d xist at th same time f example where th e s flash of l ghtning in the m dst of darkne s the o ur s multane perception f the two nt adictory things[31]

( ) If tl wh l wo ld i know to tl e o n isc nt pers ll t on e he ha othi g t know y f th r d so h will tu n to be quite unconsci us h ving n th g t kn w[32] to th t may b sa d that the bje ti n w uld have been l d if the pe c pti n of th omniscient person and th whole world were ann h lat d n the foll w g nstant But b tl a e everlasting hence there is no absurdity in the Jaina[33] position regarding th simultaneity of omniscient perception

---

25 APTAMIMAMSA K 105

26 ASTA SAHASTI P 288

27 SYAMBHU STOTRA V 138

28. APTA MIMANSA—V 101

29 PRAMEYA KAMALA MARTANDA of P aph chandr N S Bombay p 254

30 PRAMEYA—KAMALA MARTANDS, p 254

31 Ibid p 260

32 Ibid p 254

33 Ibid p 260

(D) The m̲ost fundamental difference between Syadvada and Sarvajnata is that the former leads us to relative and partial truth where as omniscience to absolute truth,[34] because Syadvada is an aplication of scriptural knowledge[35] (a kind of mediate knowledge) which determines the meaning of an object through NAYAS

True, SYADVADA has in its sweep all the different NAYAS, but even then it never asserts the absolute truth. It remains an attitude of philosophizing which tells us that on account of infinite complexities of nature and limited capacity of our knowledge what is presented is only a relative truth Now if we combine the result of the seven fold NAYAS into one can we not get at the absolute truth ? Is not the absolute truth a sum of relative truths ? The answer is in the negative Firstly the knowledge arrived at through the alternative NAYAS does not and cannot take place simultaneously but in succession lead ng to the fallacy of i finite regress.[36] To regard SYADVADA as absolute is to violate its very fundamental character of non-bsolutism Sama b bhadra has very explicitly said that even ANEKANTA (non absolutism) s ANEKANTA (non absolute) in respect of PRAMANA and Naya[37] Real Anekanta s never absolute but always relative[38] to somethirg else Howeve mnisc nt knowledge is the knowledge of the absol te truth

(E) SYADVADA ests on sense perception but I EVALA JNANA has a depe dence cn ny sen e nd arises after destructio of obstruction[39] directly by tl e soul without any inte ention of the senses[40] Like the western Realist the Jainas regard ordinary sense perception as really mediate in Thus the statu of omniscient perceiption is naturally raised as supreme knowledge

(4) CONCLUSION—We have the following points —

(a) MPOI TANCE OF ANFKANTA LOGIC—The loss caused by Anekanta (Syadvada) by its being mediate is fully made up by its capacity to demon trate the truth of the absolute wisdom to mankind This is the perfect echn que of expressing the manifold nature of reality and is indespensable for

---

34 ANEKANTA Jaya-pataka Vol II p Cxx
35 LAGHISTRAYA of Akalanka, k. 62
36 NYAYA-KUMUDA-CHANDRA of Prabhachandra p 89,
37, SYAMBHU-STOTRA K 102; SANMATI TAZKA-III 27-23.
38 ASTA-SAHASRI p 290
39 PARIKSHAMUKHAM. II , II, TATTVARTHASUTRA X I PRAMANA-MIMAMSA I I 15
40 PRAMANA-NAYA-TATTVALOKALANKARA, II 18

practical life[41] This is also the method of M hav ra s sermen [42] hence reli gious is character

(b) THE DUAL NATURE OF ANEKANTA EKANTA & ANEKANTA It is Ekanta as much a it is n independent ew po nt it is Anekanta because it s the sum total of view poi t Anekanta goe Ekanta when it goes agai st tl e right vi w of th ngn[43] i e t lso ss mes th f rm of o sidedness However the Jai as do not have obj ction if his d trine reco ls on itself on the co t ary t t enghen his po it on nd sh w th unli t d xte t of the range [44]

c) BEYOND ANEKANTA—Th mportan e f nekant lies more in its analytic l enquiry than n c ncr t results It i a w y of ph losophiz ng rather than a system of metaphysics The dema d of h ghe sp ritual life of a Yogin transcend ng the sphe e of the phe omenon poi ts t the realis tion of complete unity of ex st ce n his co ci sness He is posses io of absolute t uth which tr nscend the ealm f p o isio l truth [45] This is the state of supreme knowl dge free fr m all limitat ons like intuitional o mystic e peri n where we get a dire t mmed te and first hand intu tive pprehension of the reality Kunda kund [46] a d Yog nd [4] ar out p k J my tics

(d) FROM ANEKANTA TO ADVAITA VIA OMNISCIENCE—S f r J nism puts the l ghest lu th my t al exp rienc f Ke lin who trans ends the ealm f tl e ph m l a d r ch t the ab lut truth it approaches ery nea t Ad a ta V d nt [48] Yogindu s ident fication of the spirit with the su r p it t mph of m n m L ke d t distinction between the empiric l a d th t anscedent l k wledg we h ve n Jainism a dist nct on betwee Syad da & S j t H wev r th objectiv ty is ot outside the knower i Advaita Ved nt I Jain sm th re is a c n le xt rnal objectivity infinit ly v botl time & pl ce nd the individual self retains its i d idual ty e the ch f m i nd bliss [49] Hence any synthes s f ANEKANTA witl ADVAITA will be with due reserv tions [50]

---

41 SANMATI TARKA II 68

42 BHAGVATI SUTRA VII 2 273 XIII 7 495 SYAMBHU STOTRA 4 & 45

43 SANMATI TARKA III 28

44 ANEKANTA JAYA PATAKA V 1 II (Int o) p CVII

4 Sha tr p Hi art cle c Th Jaina Doctrine f Syadvad ith a Pragmat c Background in SIDDHA BHARTI Vol II P 93

46 PRAVACHANA SARA I 35 I 60 I 61 I 29 II 106

7 PARMATMA-PRAKASHA II 174 II 201 II 195 Yoga ar V 8

48 Shastri o Ibid p 13 p Auth r s article on Advait Trends in Jainism n DARSHNIK 1959

49 PRAVACHANA SARA INTROD LXXVII

50 Sanmat TARKA I 49 I 50 APTA MIMAMSA 24 25 TATTVARTH SLOKA VARTIKA I 23—58

●●

प्रतिवेदन

भारतीय जैन साहित्य संसद्‌की स्थापना विशाल और समृद्ध जैन साहित्यको प्रकाशमें लानेके हेतु हुई है। इस बीसवीं सदीमें विभिन्न ग्रन्थागारोंके कई शतक महत्वपूर्ण ग्रन्थ मुद्रित हुए हैं। यह सत्य है कि जितने ग्रन्थोंका मुद्रण अद्यावधि हुआ है, उनसे कई गुने ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही हैं। अधिकांश ग्रन्थागारोंकी प्रामाणिक विवरण-सूचियाँ भी अनुपलब्ध हैं। राजस्थानके जैन-शास्त्र-भण्डारोंकी ग्रन्थ-सूचिया ४ जिल्दोमें महावीर जैन शोध-संस्थान जयपुरके तत्वावधानमें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन ग्रन्थ-सूचियोंके सामने आनेसे संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओंमें लिखित सहस्राधिक ग्रन्थ केवल आमेर और जयपुरके ग्रन्थागारोंमें ही सुरक्षित हैं। इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके मुद्रणकी तो आवश्यकता है ही पर साथ ही ब्यावर अजमेर झालरापाटन नागौर आरा सूरत दिल्ली चंदेरी रोहतक पानीपत एवं हिसार प्रभृति स्थानों के ग्रन्थागारोंकी पाण्डुलिपियोंके विवरण भी प्रकाशित होनेकी नितान्त आवश्यकता है।

भारतीय ज्ञानपीठके तत्त्वावधानमें मूडबिद्रीके ताडपत्रीय ग्रन्थोंकी एक विषय-सूची प्रकाशित हो चुकी है पर अभी भी दक्षिण भारतमें ऐसे अनेक मठ और मन्दिर हैं जिनमें कई सहस्र जैन ग्रन्थ वर्त्तमान हैं। ग्रन्थ-तालिकाओंके अभावमें महत्वपूर्ण ग्रन्थोंका उपयोग नहीं हो पाता है, अत यह संसद् अपने उद्देश्यानुसार विभिन्न ग्रन्थालयों मन्दिरों मठों एवं भट्टारकीय गद्दियों के ग्रन्थोंकी सविवरण सूचिया प्रकाशित कराने का आयास कर रही है।

संसदने अल्प समयमे ही शोध और खोज करनेवाले कई जिज्ञासुओंको परामर्श ग्रन्थ प्रेषण एवं विषयके विशेषज्ञ विद्वानोंसे सम्पर्क-स्थापन द्वारा साहाय्य प्रदान किया है। इलाहाबाद विश्वविद्यालयमें श्रीस्वप्ना बनर्जी धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य पर तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन कर रही हैं। श्री बनर्जी को आरा जैन सिद्धान्त भवनसे सभी प्रकारकी ग्रन्थ-सम्बन्धी सहायताएँ दिलानेका प्रयास यह संसद् कर रहा है। संसद्‌के परामर्श मण्डलने कुछ परामर्श एवं सन्दर्भ ग्रन्थोंकी तालिका भी उक्त अध्येत्रीके पास भेजनेकी व्यवस्था की है।

बैंगलोरमें श्री बी अन्नपूर्णम्मा बाहुबलि पर शोध-कार्य कर रही हैं। संसद्-कार्यालयमें उचित साहाय्य प्राप्त करनेके लिये आपका पत्र प्राप्त हुआ है। संसद्‌ने बाहुबलि सम्बन्धी सन्दर्भ एवं बाहुबलि को नायक मानकर लिखे गए महाकाव्य और खण्डकाव्योंकी जानकारी प्रेषित की है। कार्यालयने जो सन्दर्भ-तालिका प्रस्तुत की है वह शोध-प्रबन्धकी विस्तृत रूपरेखा ही है।

नवीन कार्य करनेवाले ५—६ शोध-कर्त्ताओंको विषयोंके चुनावमें सहायता प्रदान की गई है। श्री नरेन्द्र विद्यार्थी मलहरा श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री छतरपुर श्री सूरजमुखीदेवी मुजफ्फरनगर प्रो जे पिल्लई मद्रास विश्वविद्यालय प्रो ए० एन मुखर्जी कलकत्ता विश्वविद्यालयको विषय एवं उन विषयोंकी रूपरेखाएँ भी भेजी गई हैं।

नवलेखनके क्षेत्रमें भगवान् महावीर पर शौरसेनी-प्राकृतमें कवि श्री रामनाथ पाठक प्रणयी M A साहित्य-व्याकरणाचार्य एक महाकाव्यका प्रणयन कर रहे हैं, जिसका प्रथम अध्याय लिखा

जा चुका है। इसी प्रकार लगभग ७ –८ जैन कथानकोका आधार ग्रहण कर एक उपन्यास एवं छोटी-छोटी कथाएँ लिखे जानेकी प्ररणा ससद् द्वारा दी जा रही है। समय कम रहनेसे संसद्के पास अभी इस प्रकारके आंकड़े नही हैं कि लेखनके क्षेत्रमे कहाँ और कितना कार्य वर्तमानमें हो रहा है ? यद्यपि पत्राचार द्वारा संसद् इस प्रकारके आंकडोको एकत्र कर रही है और कुछ विवरण भी कार्यालयको प्राप्त हो चुके हैं।

विभिन्न विश्वविद्यालयोंमे जन साहित्यपर की जानेवाली शोध और खोजकी जानकारीके लिये अनेक विश्वविद्यालयोंके हिन्दी संस्कृत इतिहास एवं दर्शनके विभागाध्यक्षोंसे सम्पर्क स्थापित किया जा चुका है। कई विश्वविद्यालयके संस्कृत विभागाध्यक्षोने अपने यहाँके कार्य विवरणको शीघ्र ही भेजनेको लिखा है। इसी प्रकार विक्रम विश्वविद्यालय उज्जनमे जैन साहित्य पर किये जाने जाने वाले कार्योंका विवरण भी संसद्ने प्राप्त करनेका प्रयास किया। अभी तककी जानकारीके आधार पर हम यह घोषणा करनेमे गौरवका अनुभव करते हैं कि भारतके विभिन्न विश्वविद्यालयोंमे ३५ व्यक्ति जैन साहित्य पर शोध कार्य कर रहे हैं। संसद् द्वारा आयोजित दोनो संगोष्ठियोंके लिये विषय-तालिका पत्रोमें प्रकाशित की जा चुकी है ? इन शीर्षकोमे ऐसे भी कई शीषक हैं जिनपर पी एच डी एव डी लिटके लिये शोध काय किये जा सकते हैं।

संसद्के पास अर्थाभाव है। अत अपने सीमित साधनोके बीच उसे काय करना है। हम आराकी स्वागत-समितिके प्रति आभार व्यक्त करते हैं जिमने इस संसद्का अधिवेशन अपने यहाँ आयोजित किया है।

दरबारीलाल कोठिया
संयोजक
भारतीय जैन साहित्य संसद्

आरा
६ अक्तबर। १९६५

●

सम्पादकीय

वर्तमान शोध-खोजका युग है। प्राचीन वाङ्मय पर शोध-खोज करनेवाले विद्वानोंकी संख्या दिन प्रतिदिन वृद्धिंगत हो रही है और अन्धकाराच्छादित अनेक मूल्यवान् ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहे हैं जिससे मानव जीवनकी आध्यात्मिक समस्याओंके सुलझानेमें पर्याप्त सहयोग प्राप्त हो रहा है। विद्वानोंके समानान्तर ही कई नवीन प्रकाशन-संस्थाएँ भी जन्म ले रही हैं और प्राचीन वाङ्मयके साथ नवीन साहित्य भी बडी तेजीके साथ प्रकाशमें आ रहा है। पर समृद्ध जैन वाङ्मय अभी भी विपुल परिमाणमें अप्रकाशित ही पड़ा है और जो प्रकाशित है वह भी शोध-खोज करनेवालोंको उपलब्ध नहीं हो पाता है।

जैन वाङ्मय भारतीय वाङ्मयका एक अभिन्न अंग है। प्रत्येक शोधकर्ता इस वाङ्मयकी अमूल्य मणियोंके प्रकाशसे परिचित है। जैनाचार्योंने समयकी गतिविधिको परखा था और युगानुसारी स्थायी रचनाओंका प्रणयन कर मानवकी मानसिक क्षुधाको तृप्त करनेका प्रयास किया। युगानुसार बदलते हुए जीवन-मूल्योंको क्रान्ति-द्रष्टाके रूपमें समझा और नवीन प्रतिमानोंके अनुसार साहित्यका सृजन किया।

राज्याश्रय और जैन वाङ्मय

जैनधर्मका उत्थान मगधमें हुआ पर साहित्य प्रणयनके केन्द्र दक्षिण भारत उज्जयिनी मथुरा काठियावाड़ और वलभी रहे हैं। ई० पू० १६ में कलिंग चक्रवर्ती सम्राट् खारवेलने उड़ीसाके कुमारी पर्वत पर एक मुनि-सम्मेलन बुलाया था[1] जिसमें साहित्य निर्माण-आन्दोलनका सूत्रपात किया। मथुरा-संघने इस आन्दोलनको गति प्रदान की और पुस्तकधारिणी सरस्वती देवीकी विशाल मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कर वाङ्मयकी रचना और उसके प्रसारको मूर्त्तरूप प्रदान किया। इस आन्दोलनका परिणाम यह हुआ कि दक्षिण एवं उत्तर भारतमें भूतबलि पुष्पदन्त कुन्दकुन्द शिवार्य गृद्धपिच्छ समन्तभद्र प्रभृति अनेक आचार्य ईस्वी सन् प्रारम्भके आसपास ही ग्रन्थ-प्रणयनमें संलग्न हो गये। पाटलिपुत्रमें भी जैनागमोंके संकलनका कार्य प्रारम्भ हुआ।

दक्षिणके राजवंशोंमें कदम्ब गंग होयसल राष्ट्रकूट और चालुक्य वंशके नाम जैन मनीषियों को आश्रय देनेमें प्रसिद्ध हैं। कदम्ब वंशके शान्तिवर्माके पुत्र मृगेशवर्मा द्वारा अपने राज्यके आठवें वर्षमें यापनीय निर्ग्रन्थ और कूर्चक मुनियोंको भूमिदान दिये जानेका उल्लेख है[2]। अभिलेखोंसे

---

१ [पा] तिवो वसी करोति। तेरसमे च वसे सुपवतविजयचको कुमारीपवते अरहंतोपरि निवासेताहिकाये निसिदियाय या पूजावकेहि राजभितानि च नवतानि वसु सतानि [।] पूजानि [सवन] [क म] २ च [लिरिको ?] जीवदेवकाले रखिता। सुक समण सुविहितानु च सत दिसानुं ञतिनं तपस इसि मानु अरहत निसीदिया समीपे पभरे—खारवेल शिलालेख पं० १४-१५।

२ श्रीविजयपलाशिकायां यापनि(नी)यनिर्ग्रन्थकूर्चकानां स्ववैजयिके अष्टमे वैशाखे संवत्सरे कार्तिकपौर्णमास्याम्। श्रीविजयवैजयन्तीनिवासी वसन्तम् भगवदर्हन्महाजिनेन्द्र चतुर्वर्णः। जैनशिलालेखसंग्रह द्वितीयभाग, मा०दि० जैन ग्रन्थ० बम्बई, वि० सं० २००९, लेखांक ९९[illegible]।

ज्ञात होता है कि मृगेशवर्माके पुत्र रविवर्माने यापनीय संघके प्रमुख आचार्य कुमारदत्तको पुरुखेटक ग्राम दानमें दिया था[1]। इसी प्रकार कदम्ब वंशकी दूसरी शाखाके युवराज देववर्माने यापनीय संघको कुछ क्षेत्रोंका दान देकर साहित्य-निर्माणके लिए प्रोत्साहित किया था[2]।

जैनाचार्य सिंहनन्दीने गंग राजवंशकी स्थापनामें बड़ी सहायता प्रदान की थी। गोम्मटसार वृत्तिके कर्ता अभयचन्द्र त्रविद्य-चक्रवर्तीने भी अपने ग्रन्थकी उत्थानिकामें इस बातका उल्लेख किया है। कहा जाता है कि इस वंशके संरक्षणमें उच्चारणाचार्यने कसायपाहुडके यतिवृषभकृत चूर्णी-सूत्रों पर वृत्ति लिखी। शामकुण्ड और तुम्बुलूराचार्य, बप्पदेवने भी आगमों पर टीकाएँ लिखी। कुचि भट्टारक और नन्दिमुनिने पुराण-ग्रन्थ लिखे। ये नन्दिभट्टारक पेरूर विषय के गंगराज आर्यवर्मन् के गुरु थे। ई० सन् ४ के लगभग कवि परमेष्ठीने संस्कृत-कन्नड मिश्रित वागर्थसंग्रह नामक पुराणग्रन्थ इस वंशके शासनकालमें लिखा था[3]। सर्वार्थसिद्धि नामक ग्रन्थके रचयिता आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि इस वंशके सातवें नरेश दुर्विनीतके राजगुरु थे। इन्होंने युवराज दुर्विनीतको शिक्षा प्रदान की थी। देवनन्दिने जैनेन्द्रव्याकरण समाधितन्त्र आदि ग्रन्थोंकी रचना भी इस वंशके राज्याश्रयमें की थी। इनके शिष्य गुणनन्दि (५५ ई) ने जैनेन्द्रप्रक्रिया वक्रग्रीव नवशब्दवाच्य पात्रकेसरीने त्रिलक्षणकदर्थन श्रीवर्धदेव (६ ६२५ ई) ने चूडामणिशास्त्र ऋषिपुत्र (६५ ई) ने निमित्त शास्त्र और संहिताग्रन्थ एवं चन्द्रसेनने केवलज्ञान होरा ग्रन्थोंका प्रणयन इस वंशकी छत्रच्छायामें किया है।[3] गंगनरेश मारसिंहके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने अनेक बड़े बड़े युद्धों में विजय प्राप्तकर नाना दुर्गोंको जीत जैनमन्दिर और स्तम्भोंका निर्माण कराया था। मारसिंहके उत्तराधिकारी रायमल्ल (चतुर्थ) के मन्त्री तथा सेनापति वीर चामुण्डरायने श्रवणबेलगोलके विन्ध्यगिरि पर्वत पर चामुण्डरायबसतिका निर्माण कराया और गोम्मटेश की विशाल मूर्त्तिकी स्थापना भी की। चामुण्डरायने कन्नड भाषामें चामुण्डरायपुराणकी भी रचना की है। इसकी प्रेरणा और प्रार्थनासे आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्तीने गोम्मटसार लब्धिसार त्रिलोकसार आदि ग्रन्थोंकी रचना की।

जैन वाङ्मयके प्रणयनमें सहयोग देनेवाले राजवंशोंमें राष्ट्रकूट वंशका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। गोविन्द तृतीयके पश्चात् इस वंशमें अमोघवर्ष राजा हुए जिन्होंने सन् ८१५ से सन् ८७७ तक राज्य किया। इनके समयमें जैन साहित्यकी पर्याप्त समृद्धि हुई। वीरसेन स्वामीके पट्टशिष्य सेनसंघी

---

१ ते रवि पुण्यार्थं स्वपितुर्मत्रि दत्तवान् पुरुखेटकं। जिनेन्द्रमहिमा।—वही लेख सं १ पृ ७५।

२ देववर्मयुवराज स्वपुण्यफलाभिकांक्षया त्रिलोकभूतहितदेशित धर्मप्रवर्त्तनस्य अर्हत भगवत चैत्यालस्य भग्नसंस्काराच्चयनमहिमार्थं यापनीयसंघेभ्य। —वही लेखसं १ ५ पृ ८३।

३ जैनशिलालेखसंग्रह प्रथम भाग मा दि जैन ग्र बम्बई वि स १९८४ भूमिका पृ ७२।

४ वही पृ० ७२।

५ भारतीय इतिहास एक दृष्टि—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी सन् १९६१ पृ० २५९।

६ वही पृ २६३ तथा जैन सिद्धान्त भास्कर आरा भाग १३ किरण १ गोम्मटेश प्रतिष्ठापक पृ १६।

आचार्य जिनसेन स्वामी उसके गुरु थे।¹ इन्होंने वाटनगरके अधिष्ठानमें सन् ८३७ ई० में जयधवला टीकाको पूर्ण किया। पश्चात् सम्राट्के आग्रह पर आम्रवेदमें आकर पार्श्वाभ्युदय और आदिपुराणकी रचना की। आचार्य जिनसेनके शिष्य गुणभद्र भी अमोघवर्ष द्वारा मान्य थे। इस सम्राट्ने इनको अपने पुत्रका शिक्षक नियत किया था। अतः गुणभद्रने राज्याश्रयमें उत्तरपुराण आत्मानुशासन और जिनदत्तचरित आदि ग्रन्थोंका प्रणयन किया। कल्याणकारकके रचयिता उग्रादित्य भी इस सम्राट द्वारा सम्मानित थे। महावीराचार्यने 'गणितसारसंग्रह' की रचना अमोघवर्षके आश्रयमें ही की थी। यापनीय संघके आचार्य शाकटायन पाल्यकीर्तिने 'शाकटायन' नामक शब्दानुशासन की रचना इन्हींके आश्रयमें की थी और इस ग्रन्थकी अमोघवृत्ति नामकी टीका भी आश्रयदाताको अमर करनेके लिए लिखी। अमोघवर्षने संस्कृतमें 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नामका नीतिग्रन्थ और कन्नडमें 'कविराजमार्ग' नाम का छन्द और अलंकार शास्त्र का ग्रंथ रचा। इस वंशके राजा कृष्ण द्वितीयके आश्रयमें महाकवि गुणवर्मने कन्नड भाषामें महापुराणकी रचना की है। कृष्णने कन्नड भाषाके जैन महाकवि पोन्नको उभय भाषा चक्रवर्तीकी उपाधिसे विभूषित किया था। सोमदेवने यशस्तिलक एवं नीतिवाक्यामृतकी रचना कृष्णके चालुक्य सामन्तके आश्रयसे सन् ९५९ ई में गंगाधर नगरमें की थी। राष्ट्रकूट वंशके राजाओंमें कृष्ण द्वितीय बहुत विद्यानुरागी था। इसने अपभ्रंश भाषाके महाकवि पुष्पदंतको राज्याश्रय प्रदान किया था और महापुराण जैसे विशालकाय काव्यगुणमण्डित ग्रन्थ का प्रणयन कराया।

चालुक्य नरेशोंने कई जैन आचार्यों और लेखकोंको आश्रय देकर साहित्य-रचनाके मार्गको पल्लवित किया। पुलकेशी (द्वितीय) के समयमें जैन कवि रविकीर्तिको संस्कृत-काव्य-कलामें कालिदास और भारविके समान पटु बतलाया गया है। लक्ष्मेश्वरसे प्राप्त अनेक दानपत्रोंमें चालुक्य नरेश विनयादित्य विजयादित्य और विक्रमादित्य द्वारा जैनाचार्योंको दान दिये जाने का उल्लेख है। ग्यारहवीं शताब्दीमें दक्षिण भारतमें जब पुनः चालुक्य नरेशों का वैभव बढ़ा तो अनेक जैन कवि और जैन दार्शनिकोंको इस वंशके राजाओंने आश्रय प्रदान किया। पश्चिमी चालुक्य वंशके संस्थापक तैलपने कन्नड भाषाके जैन कवि रन्नको आश्रय दिया। तैलपके उत्तराधिकारी सत्याश्रयने जैन मुनि विमलचन्द्र पण्डितदेवको अपना गुरु बनाया। इस वंशके जयसिंह द्वितीय सोमेश्वर प्रथम और द्वितीय तथा विक्रमादित्य षष्ठने कितने ही जैन कवियोंको प्रोत्साहित कर साहित्य-सृजन कराया। तैलपने कवि रन्नको ९९३ ई में अजितपुराण या पुराणतिलक महाकाव्यके पूर्ण होनेके उपलक्ष्यमें कविचक्रवर्ती की उपाधिसे विभूषित कर स्वर्ण-दण्ड चँवर-छत्र गज आदि वस्तुएँ देकर पुरस्कृत किया। मल्लपकी पुत्री और नागदेवकी पत्नी विदुषीरत्न अत्तिमब्बेने महाकवि पोन्नके शान्तिनाथपुराणकी एक सहस्र प्रतियाँ अपने व्ययसे तैयार कराकर वितरित कीं। इस वंशके राजा जयसिंह द्वितीयने जैन वाङ्मयके निर्माणमें बहुत सहयोग प्रदान किया। इसने अपनी सभामें वादिराज सूरिको सम्मानित किया और "जगदेकमल्लवादी" की उपाधि प्रदान की। वादिराजने सन् १०२५ ई० में अपना प्रसिद्ध काव्य 'पार्श्वचरित' रचा। एकीभावस्तोत्र एवं अकलंकदेव कृत न्यायविनिश्चयकी टीका भी इनके द्वारा इसीके राज्याश्रयमें रची गयी। इस वंशके राजा सोमेश्वर प्रथमने जैनाचार्य अजितसेन का सम्मान किया

१ संवत्सरी स्वयमोघवर्षनृपतिः पुत्रोऽहमस्मीत्यलम्।
स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम्॥—उ०पु० भा०ज्ञानपीठ, काशी, प्र० श्लो० ९

और उन्हें शब्दचतुर्मुख उपाधि प्रदान की। इस राजाकी पट्टरानी केतलदेवीने भी अपने सचिव पार्श्वराय द्वारा सेनगण पोगरिगच्छके गुरु महासेनके प्रशिष्य और आर्यसेनके शिष्य महासेनको सन् १०५४ ई०में दान दिया और साहित्य-सृजनके मार्गको प्रशस्त बनाया। विक्रमादित्य षष्ठने जैनाचार्य वासवचन्द्र का सम्मान करके उन्हे 'बालसरस्वती' की उपाधि प्रदान की। जैनाचार्य अर्हनन्दि इसके धर्मगुरु थे। इस प्रकार चालुक्य राजाओंने जनवाडमयके प्रणयनमे अपूर्व योगदान दिया। राष्ट्रकूट और चालुक्य नरेशोंमें कई नरेश विद्यारसिक और साहित्य प्रेमी थे फलत उन्होंने विना किसी भेद भावके जैन साहित्य और संस्कृतिको विकसित किया।

होयसल राजवंश की स्थापना एक जैन मुनि के निमित्त से हुई थी। विनयादित्य नरेश के राज्यकाल मे जैनमुनि वर्धमानदेव का शासन प्रबन्ध मे बहुत बडा हाथ रहा है। होयसलों का मूलनिवास स्थान पश्चिमी घाट पर मुदगेरे तालुके मे स्थित अंगदि शशकपुर नगर था। यह स्थान जैन वाङ्मय का केन्द्र था। यहाँ जैनाचाय सुगत वद्धमान का विद्यापीठ वर्तमान था जिसमे अनेक गृहस्थ त्यागी और मुनि शिक्षा प्राप्त करते थे। सल नामक व्यक्ति जो कि चालुक्यो के साधारण श्रेणी के सामन्तका पुत्र था इन्ही आचार्य के पास अध्ययन करता था। सल ने ही इस वश के राज्य का विस्तार किया। सुगत वर्धमान धमगुरु एव राजगुरु थे। इस वंश ने अभयचन्द्र अजितसेन भट्टारक दार्शनिक गोपनन्दी चारुकीर्त्ति पण्डितदेव प्रभति साहित्यकारो को सम्मानित किया तथा राज्याश्रय देकर साहित्य प्रणयन के लिए प्रोत्साहित किया।

उपर्युक्त प्रसिद्ध राजवशो के अतिरिक्त छोटे छोटे राजवशा मे जन साहित्य का वृद्धिगत करनेवालो मे कलचुरि रट्ट शिलाहार एव कोगान्ववश का विशेष महत्त्व है। भुजबल साम्तर ने अपनी राजधानी पोम्बुच वग मे एक जनमन्दिर बनवाया और अपने गुरु कनकनन्दि को उस मन्दिर के संरक्षणार्थ एक ग्राम दान मे दिया। विजयनगर साम्राज्य के कई नरेशो ने जन साहित्य के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। हरिहर द्वितीय की प्ररणा से अभिनव श्रुतमुनि ने मल्लिषेण कृत सज्जनचित्तवल्लभ का कन्नड टीका लिखी। मधुर ने धर्मनाथपुराण और गोम्मटाष्टक ग्रन्थो का प्रणयन किया। ये दोनो ही कवि उक्त राजा के आश्रय मे थे। इस साम्राज्य में उत्पन्न देवराय द्वितीय (सन् १४१९–१४४६) ई का राजसभा मे जनाचार्य नेमिचन्द्र ने अन्य विद्वाना से शास्त्रार्थ कर विजयपत्र प्राप्त किया था। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ सूरि इसी देवराय के आश्रित थे। महाराज विरूपाक्षराय की राजसभा मे उद्भट विद्वान् एव महान् वादी जनाचाय विशालकीर्ति ने परवादी विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर राजा से जय-पत्र प्राप्त किया था। चंगाल्व-नरेश का सेनापति मंगरस था यह पराक्रमी और वीर होने के साथ कवि भी था। इसने जयनृपकाव्य प्रभञ्जनचरित नेमिजिनेशसंगति सम्यक्त्वकौमुदी एव सूपशास्त्र आदि ग्रन्थो की कन्नड मे रचना की। महाराज कृष्णदेव की राजसभा मे कई जैन कवि थे। भारत शारदाविलास नेमीश्वरचरित और वद्धमान के कर्त्ता साल्व चन्द्रप्रभचरित के कर्त्ता दोडय्य एव अञ्जनैय के कर्त्ता बाचरस उक्त राजा के आश्रय मे रहकर ग्रन्थो का निर्माण करते रहे। वस्तुत कृष्णदेव का राज्यकाल जैन साहित्य के प्रणयन के लिए बहुत ही उपयुक्त था। विजयनगर नरेश वेंकटराय प्रथम (१५८६–१६१७ ई) की राजसभा मे भट्टारक अकलंक ने सारत्रय और अलंकारत्रय का व्याख्यान करके कीर्ति अर्जित की थी। कर्णाटक-शब्दानुशासन नामक प्रसिद्ध कन्नड व्याकरण इन्हीं की रचना है।

काठियावाड़ ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी के मध्यभाग से ही जैन साहित्य के निर्माण का केन्द्र था। धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्रगुफा में निवास करते थे। इन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक आचार्यों को बुलाकर आगम का अध्ययन कराया जिसके फलस्वरूप षट्खण्डागम का प्रणयन हुआ। गुजरात में सन् ४५४ ई० में क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता में जैन मुनियों का एक विशाल सम्मेलन बुलाया गया जिसमें जैनागमके ४५ ग्रन्थ संकलित किये गये। वलभीके जैनाचार्योंमें मल्लवादी नामके एक महान् आचार्य हुए जिन्होंने द्वादशारनयचक्र नामक जैन न्यायका श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखा है।

प्राचीन समयमें गुजरातमे अणहिलवाडके अतिरिक्त भिन्नमाल या श्रीमाल जैन विद्याके लिए प्रसिद्ध था। सिद्धर्षिका उपमितिभवप्रपञ्चकथा नामक ग्रन्थ सन् ९ ६ मे इसी नगरमें समाप्त हुआ। सन् ७७८ ई में उद्योतनसूरिने जाबालीपुर (जालोर) में कुवलयमाला नामक प्राकृत ग्रन्थको रचना की है जो भिन्नमालके निकट है। उद्योतनसूरिने हरिभद्रके अतिरिक्त गुप्तवंशी देवगुप्त नामके आचार्य को भी अपना गुरु लिखा है। देवगुप्त महाकवि थे। इनके शिष्य सिद्धचन्द्रने श्रीमालको अपना निवास स्थान बनाया था। अणहिलवाडमे राज्य करनेवाले चौलुक्यवंशीय प्रथम राजा मूलराज जैन साहित्य का प्रेमी था। ११वी शतीमे शान्तिसूरि और नेमिचन्द्रने उत्तराध्ययनकी विशाल टीकाएं लिखी। सिद्धराजके आश्रयमें हेमचन्द्र और उनकी शिष्यमण्डलीने व्याकरण काव्य नाटक एवं नाट्यशास्त्रो पर ग्रन्थोंका प्रणयन किया। आचार्य हेमचन्द्रके समकालिक कवि और विद्वानोंमे सिद्धराजके राजकवि प्राग्वाटवंशीय श्रीपालका नाम प्रसिद्ध है। उसने सिद्धराजके द्वारा निर्मित सुप्रसिद्ध सहस्रलिंगसागरकी प्रशस्ति लिखी है जिसका कुछ अंश पाटनके एक मन्दिरमे मिले पाषाणखण्ड पर खुदा प्राप्त हुआ है। बडनगरके गढकी प्रशस्तिके अन्तमें श्रीपाल कविका परिचय निम्नप्रकार मिलता है —

एकाहनिष्पन्नमहाप्रबन्ध, श्रीसिद्धराजप्रतिपन्नबन्धुः।
श्रीपालनामा कविचक्रवर्ती प्रशस्तिमेतामकरोत्प्रशस्ताम् ॥

श्रीपालका पुत्र सिद्धपाल भी एक अच्छा कवि था और सिद्धपालका पुत्र विजयपाल अच्छा संस्कृत-नाटककार था। उसकी एक रचना द्रौपदी-स्वयंवर उपलब्ध है जो मूलराजके द्वारा निर्मित त्रिपुरुषप्रासाद में भीमदेव द्वितीयकी आज्ञासे अणहिलवाडमें खेला गया था। यशपाल कविने सन् ११७४–११७७ ई के मध्यमें मोहराजपराजय नाटककी रचना की। यशपाल कुमारपालके उत्तराधिकारी अजयपालका जैन मन्त्री था।

तेरहवीं सदीके पूर्वार्धमें गुजरातके धोलका नगरके राजाका महामन्त्री वस्तुपाल अपनी साहित्य-सेवाके लिए प्रसिद्ध है। इनका नरनारायणमहाकाव्य सोमेश्वरकी कीर्तिकौमुदी और सुरथोत्सव अरिसिंहका सुकृतसंकीर्तन बालचन्द्रका वसन्तविलास और उदयप्रभसूरिका धर्माभ्युदय जैन साहित्यकी अमूल्य मणियाँ हैं, जिनके प्रणयनका श्रेय वस्तुपालको है। देशी राज्यके नरेशोंमें नागौर नरेश भारमल का नाम उल्लेखयोग्य है। इनके आश्रयमें राजमल्लने पञ्चाध्यायी जम्बूस्वामीचरित, लाटीसंहिता अध्यात्मकमलमार्तण्ड और पिङ्गलशास्त्रकी रचना की है। मुसलमान नरेशोंमें अकबरने अनेक जैन कवियोंको राज्याश्रय प्रदान किया था। इसने सन् १५८२ ई० में हीरविजयसूरिको गुजरातसे बुलाकर जगद्गुरुकी उपाधिसे विभूषित किया था। अकबरने भी ब्रह्मचारी रायमल्ल,

कविनन्द और विष्णुको सत्कृत किया था। इस प्रकार राज्याश्रय प्राप्तकर जैन साहित्य पुष्पित हुआ था। समन्तभद्र हरिभद्र अकलंकदेव प्रभृति जैन नैयायिकोंको भी राजसभाओंमें सम्मान प्राप्त हुआ था। इसमें सन्देह नही कि साहित्यके प्रणयनमें वातावरणका प्रमुख स्थान रहता है। राज्याश्रयके अभावमें सत् साहित्यके निर्माणमें अनेक प्रकारकी बाधाएँ आती हैं। सुसंगठित संस्था और धनी-मानियोका सहयोग साहित्य रचनाके लिए सदासे अपेक्षित रहा है।

प्रम और सौन्दर्यकी दृष्टिसे जैन साहित्यका मूल्याकन

साहित्य निर्माणके लिए आवश्यक राज्याश्रय एवं वातावरणके विश्लेषणके अनन्तर यह विचार करना भी अत्यावश्यक है कि प्रम एवं सौन्दय निरूपण की दृष्टिसे जैन साहित्य का मूल्य कितना है ? अधिकांश विद्वान् जैन साहित्यको आचार या धर्म-मूलक ही मानते है पर बात ऐसी नही है। जैन साहित्यमे सौन्दय और प्रेम का चित्रण यथेष्टरूपमे हुआ है। यहाँ पर केवल संस्कृत-साहित्यके उदाहरणों का ही विश्लेषण किया जायगा। प्राकृत अपभ्रंश कन्नड तामिल तेलगु मराठी गुजराती हिन्दी राजस्थानी प्रभति भाषाओंमे निबद्ध जन साहित्यमे सौन्दय प्रम एव जीवन भोगो का यथेष्ट चित्रण वर्तमान है।

सौन्दयके दो क्षत्र है—मानव जगत् और प्रकृति। मानव का शरीर नत्रोको आकृष्ट करता है और उसका आनन्द भावनासे सीधा सम्बन्ध है। पुरुष शरीर की अपेक्षा नारी शरीरके चित्रणमें कवियाने अधिक रस लिया है। कवि वीरनन्दी महासेन की महिषी लक्ष्मणाके रूपलावण्य का चित्रण करता हुआ कहता है

> तस्य श्रीरिव कमलालयादुपेता पातालादिवपरिनिर्गताहिकन्या।
> पुष्पेषो रतिरिव लक्ष्मणेति जाया सर्वान्त पुरपरमेश्वरी बभूव॥

चन्द्रप्रभचरित निर्णयसा १९ २ ई १६।१६

> सच्छाया विपुलमहातरालतेव मेघानामिव पदवी सतारतारा।
> चापश्रीरिव वरवंशलब्धजन्मा या रेजे सुकविकथेव चारुवर्णा॥ — वही १६।१७

कामदेव की पत्नी रतिके समान अथवा कमल निवास का त्यागकर आयी हुई विष्णु पत्नी लक्ष्मीके तुल्य या पातालस प्रकट हुई नागकन्याके समान यह लक्ष्मणा है। महावृक्षकी लताके समान सच्छाया—छायायुक्त रानीके पक्षमे कान्तिसे युक्त मेघा की पदवी—आकाशके समान बड़े तारागुच्छो—तारागणोसे परिपूर्ण रानीके पक्षम मोतियासे परिपूर्ण धनुष की शोभाके समान श्रेष्ठ वंश—बांस रानीके पक्षमें कुलसे उत्पन्न और सुकवि की कथा—वाणीके समान सुन्दर—वर्ण-अक्षर रानीके पक्षमे वर्ण—रंग वाली उस राजा की रानी थी।

> लोलत्वं नयनयुगे न चित्तवृत्तौ मन्दत्वं गतिषु न सज्जनोपकारे।
> कार्कश्यं कुचयुगले न वाचि यस्या भंगोऽभूदलकचये न चापि शीले॥
> सौभाग्यं क्वचिदितरत्र रूपमात्रं क्वापि स्याद्विनयगुणोऽपरत्र शीलम्।
> यस्यां तत्समुदितमेव सर्वमासीत्प्रायेण प्रभवति तादृशी न सृष्टिः॥

च प्र० निर्ण० १६।१७।१८

उस लक्ष्मणाके दोनों नेत्र चंचल थे, पर चित्त चंचल नहीं था; उसकी नाक ऊँची थी, पर परोपकार की वृत्ति शिथिल नहीं थी; उसके स्तन कठोर थे, पर वाणी कठोर न थी; केशोंमें अंग—वक्रता—टेढ़ापन था, पर सदाचारके सम्बन्धमें वक्रता न थी। कहीं केवल सौन्दर्य होता है, कहीं केवल रूप रंग होता है कहीं केवल विनयगुण ही होता है और कहीं केवल शील होता है पर लक्ष्मणामें ये सब बातें एक साथ थीं।

महाकवि वादिराजने नारी-सौन्दर्य का चित्रण बहुत सुन्दर किया है। समस्त उदाहरणोंको प्रस्तुत करना असंभव है। अतः नमूनेके रूपमें दो-एक उदाहरण ही प्रस्तुत कर कवि की सौन्दर्य-वर्णन की क्षमताको स्पष्ट किया जायगा। कवि विजया रानीके अंग प्रत्यंगके सौन्दर्यका चित्रण करनेके पश्चात् कहता है।

तदीयसौन्दर्यविशेषविस्मितस्मरेण रागो रतये विचोदित।
प्रकल्प्य मूल्यं नवपल्लवश्रियं बली मृगाक्ष्याः करमग्रहीद्ध्रुवम्॥

पार्श्व० च मा दि जैन ग्र म वि सं १६७३ ४।९६

रतिके निमित्त उस अनिन्द्य सुन्दरी रानीके सौन्दर्यको लेनेके हेतु कामदेवके द्वारा भेजा गया राग (लालिमा) नूतन पल्लवरूपी लक्ष्मीको मूल्यके रूपमें लेकर आया पर इस मृगनयनीके पास आते ही सब कुछ भूल गया और इस रूपवतीका हाथ पकड़कर वहीं रह गया।

धर्मशर्माभ्युदयमें महाकवि हरिचन्द्रने नारीरूपका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। सुव्रताके लावण्यका चित्रण करता हुआ कवि कहता है —

सुधासुधारश्मिमृणालमालतीसरोजसारैरिव वेधसा कृतम्।
शनैः शनैर्मौग्ध्यमतीत्य सा दधौ सुमध्यमा मध्यममध्यमं वयः॥

धर्मशर्माभ्युदय निर्णयसागर सन् १६३३ ई, २।३६

सुन्दर कमरवाली उस सुव्रताने शनै शनै मौग्ध्य अवस्थाको व्यतीत कर ब्रह्मा द्वारा अमृत चन्द्रमा मृणाल मालती और कमलके स्वत्वसे निर्मितका तरह सुकुमार तारुण्य अवस्थाको धारण किया।

स्मरेण तस्याः किल चारुता-रसं जनाः पिबन्तः शर-जर्जरीकृताः।
स पीतमात्रोऽपि कुतोऽन्यथागलत्तदङ्गतः स्वेदजलच्छलाद्बहिः॥ वही २।६७

जो भी व्यक्ति उसके सौन्दर्य रसका पान करते थे कामदेव उन सबोंको अपने बाणों द्वारा जर्जर कर देता था, यदि ऐसा न होता तो सौन्दर्य-रसके पीनेके साथ ही स्वेद जलके बहाने उनके शरीरसे क्यों निकलने लगता।

इतः प्रभृत्यम्ब न ते मुखाम्बुजश्रियं हरिष्येऽहमितीव चन्द्रमाः।
प्रतीतयेऽस्याः सकुटुम्बको नखच्छलेन [illegible]॥ वही २।६८

हे माँ! मैं आजसे लेकर कभी भी तुम्हारे मुखकमलकी शोभाका अपहरण न करूँगा— मानो यह विश्वास दिलानेके लिए ही चन्द्रमाने अपने समस्त परिवारके साथ नखोंके बहाने इस पतिव्रताके चरणोंका स्पर्श किया था।

कविने अंग-प्रत्यंगोंका चित्रण करते हुए लिखा है—

कपोलहेतोः खलु लोल-चक्षुषो विधिर्व्यधात्पूर्णसुधाकरं द्विधा ।
विलोक्यतामस्य तथा हि लाञ्छनच्छलेन पश्चात्कृतसीवनव्रणम् ॥ वही २।५०

ऐसा मालूम होता है कि विधाताने उस चपललोचनाके कपोल बनानेके लिए मानो पूर्ण चन्द्रमाके दो टुकड़े कर दिये हों। इसीलिए उस चन्द्रमामें कलंकके बहाने पीछेसे की हुई सिलाईके चिह्न वर्तमान हैं।

प्रवालबिम्बीफलविद्रुमादय समा बभूवु प्रभयैव केवलम् ।
रसेन तस्यास्त्वधरस्य निश्चित जगाम पीयूषरसोऽपि शिष्यताम् ॥ वही २।५१

किसलय बिम्बीफल और मूगा आदि केवल वर्णकी अपेक्षा ही उसके ओठके समान थे। रसकी अपेक्षा तो निश्चय ही अमृत भी उसका शिष्य हो चुका था। नासिकाका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

ललाटलेखाशकलेन्दुनिर्गलत्सुधोरुधारेव घनत्वमागता ।
तदीयनासा द्विजरत्नसहतेस्तुलेव कान्त्या जगदप्यतोलयत् ॥ वही २।५३

उसकी नाक क्या थी ? मानो ललाटरूपी अर्धचन्द्रसे भरनेवाली अमृतकी धारा ही जमकर दृढ़ हो गयी हो अथवा उसकी नाक दन्तरूपी रत्नोके समूहको तोलनेकी तराजू थी पर उसने अपनी कान्तिसे सारे संसारको तोल डाला था—सबको हलका कर दिया था।

इमामनालोचनगोचरां विधिर्विधाय सृष्टे कलशार्पणोत्सुक ।
लिलेख वक्त्रे तिलकाङ्कमध्ययोर्भ्रुवामिषादामिति मङ्गलाक्षरम् ॥ वही ३।५५

उस अनिन्द्य सुन्दरी को बनाकर विधाता सृष्टि के ऊपर मानो कलश रखना चाहते थ इसलिए तो उन्होंने तिलक से चिह्नित भौहो के बहाने उसके मुख पर ॐ यह मगलाक्षर लिखा था।

कपोललावण्यमयाम्बुपल्वले पतत्सतृष्णाखिलनेत्रपत्रिणाम् ।
ग्रहाय पाशाविव वेधसा कृतौ तदीयकर्णौ पृथुलासचुम्बितौ ॥ वही २।५५

स्थूल कन्धो तक लटकते हुए उसके कान क्या थे ? मानो कपोलो के सौन्दर्य रूपी स्वच्छ जलाशय में प्यास के कारण पडते हुए समस्त मनुष्यो के नेत्ररूपी पक्षियो को पकडने के लिए विधाता ने जाल ही बनाये हो।

प्रकृति-सौन्दर्य के प्रसंग में वन उपवन पर्वत नदी उषा सन्ध्या प्रभात रजनी ऋतु, समुद्र प्रभृति का प्रभावक चित्रण किया गया है। कवि अमरचन्द सूरि ने प्रभात का वर्णन करते हुए दधि-मन्थन करनेवाली गोपिकाओ की वेणी का सरस चित्रण किया है और उनकी वेणी को कामदेव का खड्ग कहा है।—

दधिमथनविलोलल्लोलदृग्वेणिदम्भा—
दयमदयमनङ्गो विश्वविश्वैकजेता ।
भवपरिभवकोपत्यक्तबाणः कृपाण—
श्रममिव दिवसादौ व्यक्तशक्तिर्व्यनक्ति ॥ बालभारत १।११।६

कवि वाग्भट ने भी प्रभात का सरस चित्रण किया है। कमलों में बन्द हुए भ्रमर बाहर निकल रहे थे। चन्द्रकिरणों से स्फटिक मणि निर्मित-सा आकाश, जो कि रात्रि में शुभ्र धवल प्रतीत होता था अब सूर्य-किरणों के सम्पर्क से कुंकुम स्नात-सा मालूम पड़ रहा है। नदी और सरोवरों का जल अरुण प्रतीत हो रहा है। दधि-मन्थन करनेवाली गोपबालाओं की चंचल वेणी हिल रही है और उनका उभरा हुआ यौवन चमक रहा है।

संध्यागमे सततमोमृगनाभिपङ्कैर्नक्तं च चन्द्ररुचिचन्दनसञ्चयेन।
यच्चर्चितं तदधुना भुवनं नवीनभास्वत्करौघघुसृणैरुपलिप्यतेस्म॥ नेमिनि० ३।१५
अङ्गेन तुङ्गकुचकुम्भभृता विलोलवेणीकरेण निनदद्वलयान्वितेन।
गोप्यो वहन्त्य इव कामगजावतारं मन्थन्ति गोरसमलीमगभीरघोषम्॥ वही ३।१८

प्रातःकालीन शीतल मन्द सुगन्ध समीर का चित्रण करता हुआ कवि कहता है—

स्वैरं विहृत्य सरसीषु सरोरुहाणामाकम्पनेन परितश्च्युरितो रजोभिः।
भृङ्गावलीमुखरशृङ्खलसूच्यमानो मन्दं मरुच्चरति चित्तभुवः करीव॥ वही ३।२३

स्वच्छंदता छोड़ तालाबों में कमलों के कांपने से चारों ओर से गिरे हुए पराग द्वारा आच्छादित भ्रमरावली की वाचालता से अवगत होनेवाला पवन मनोत्पन्न हाथी के समान धीरे धीरे प्रवाहित हो रहा था।

सूर्यास्त का मार्मिक वर्णन करते हुए कवि हरिचन्द्र ने आकाश मे विधवा स्त्री का आरोप कर कहा है—

अस्तगते भास्वति जीवितेशे विकीर्णकेशेव तमःसमूहैः।
ताराश्रुबिन्दुप्रकरैर्वियोगदुःखादिव द्यौ रुदती रराज॥ धर्मश १४।२

सूर्यके अस्त होने पर ऐसा मालूम पड़ता था कि आकाशरूपी स्त्री सूर्यरूप पतिके नष्ट-मृत हो जाने पर विधवा हो गयी है अतः वह अन्धकार समूहके बहाने केश बिखेर कर ताराका अश्रुबिन्दुओंके समूहसे मानो रो ही रही है। अन्धकारका चित्रण करता हुआ कवि पुनः कहता है—

अस्ताचलात्कालवलीमुखेन क्षिप्ते मधुच्छत्र इवार्कबिम्बे।
उड्डीयमानैरिव चञ्चरीकैर्निरन्तरं व्यापि नभस्तमोभिः॥ वही १४।२२

जब कालरूपी वानरने मधुके छत्तेके समान सूर्य बिम्बको अस्ताचलसे उखाड़ कर फेंक दिया तब उड़नेवाली मधु मक्खियोंकी तरह अन्धकारसे यह आकाश निरन्तर व्याप्त हो गया।

प्रकृतिका मानवीकरण करते हुए कविने सूर्य पर धीवरका आरोप किया है—

अस्ताद्रिमारुह्य रविः पयोधौ कैवर्तवत्क्षिप्तकराग्रजालः।
आकृष्य चिक्षेप नभस्तटेऽसौ क्रमात्कुलीरं मकरं च मीनम्॥ वही १४।८

सूर्य धीवरकी तरह अस्ताचल पर आरूढ़ हो समुद्रमें अपने किरणरूपी जालको डाले हुए था। ज्यों ही कर्क—केकड़ा, मकर—मगर और मीन—मत्स्यजन्तु (पक्ष में राशियां) उसमें फंसे त्यों ही उसने खींच कर उन्हें क्रम-क्रमसे आकाशमें उछाल दिया।

प्रकृति पर मानवीय भावनाओंका आरोप करते हुए कविने कहा—

> तमून प्रियविरहार्तचक्रवाक्या कारुण्यान्निशि रुदितं घनं नलिन्या ।
> यस्मात्तज्जलकणलाञ्छितारुणानि प्रत्यन्ते कमलविलोचनानि तस्या ॥ वही १४।३०

पतिके विरहसे दुःखी चकवी पर दया आनेसे कमलिनी मानो रातभर खूब रोती रही है। इसलिए तो उसके कमलरूपी नेत्र प्रातःकालके समय जलकणोंसे चिह्नित एवं लाल-लाल दिखाई दे रहे हैं।

> मुखं निमीलन्नयनारविन्दं कलानिधौ चुम्बति रात्रि रागात् ।
> गलत्तमानीलदुकूलबन्धा श्यामाद्रवच्चन्द्रमणिच्छलेन ॥ वही १४।३९

ज्यो ही चन्द्रमारूपी चतुर (पक्षमे कलाओंसे युक्त) पतिने जिसमे नेत्ररूपी कमल निमीलित हैं ऐसे रात्रिरूपी युवतीके मुखका रागपूर्वक चुम्बन किया त्यो ही उसकी अंधकाररूपी नीली साड़ीकी गाँठ खुल गयी और वह स्वयं चन्द्रकान्त मणिके छलसे द्रवीभूत हो गयी।

जैन साहित्यमें शृंगार और यौवनके चित्र भी कम नही है। जैन कवियोने जीवनकी समस्त दिशाओंका पूर्णतया अवलोकन किया है। कवि नयचन्द्रने रतिको रस कहा है और इसे परमात्मासे भी उत्कृष्ट बतलाया है —

> रतिरस परमात्मरसाधिक कथममा कथयन्तु न कामिन ।
> यदि सुखी परमात्मविवेकका रतिविदौ सुखिनौ पुनरप्युभौ ॥ हम्मीर का ७।१४

कवि अमरचन्द्रने पुष्पावचयके समय नायक नायिकाओं की पारस्परिक ईर्ष्या का सुन्दर चित्रण करते हुए लिखा है —

> अपि प्रसूनेषु नखक्षत प्रिये सृजत्यसूया विदध मनस्विना ।
> भृंगोऽपि पुष्पावचयोत्थित पिबन्प्रियामुखाब्ज रसिनाप्यसूयत ॥
>
> बालभारत १।८।२१

फूल चुनते समय प्रिय जब पुष्पोको नखक्षत करता है तो उसकी मनस्विनी नायिकाको ईर्ष्या होती है। उधर नायिका द्वारा पुष्पचयनके कारण उडा हुआ भ्रमर प्रियाके मुखकमल रस का पान करता है जिससे रसिक प्रियको भी असूया होती है। इस पद्यमे मनस्विनी नायिका और रसिक नायक दोनो की भावनाओ का अच्छा चित्रण किया गया है। इसी सन्दर्भमे कवि आगे कहता है —

> भृंगेण दष्टो नवपल्लवभ्रमादुपेत्य दूरादधरो मृगीदृश ।
> विषव्यथा हर्तुमिव स्वयं त्वरादुपात्तपीतो दयितेन धीमता ॥ वही १।८।८२

नवीन पल्लवके भ्रमसे दूरसे आकर भ्रमर द्वारा डसा मृगनयनी का अधर विष वेदनासे व्याप्त है अत विष व्यथाको दूर करनेके लिए शीघ्रतापूर्वक स्वयं बुद्धिमान् प्रियने अधर का पान कर लिया। कवि नायक नायिकाके प्रेम मिश्रित क्रोध का चित्रण करता हुआ कहता है —

> दत्तोऽवकीर्णं दयितेन कौसुमं परा यदालिङ्गितुमङ्गनाहशि ।
> तदाशु निश्वासभरेण निघ्नती हृदात्मनि द्रोहमपि व्यधत्त सा ॥

[illegible] ॥
विरचय्य कुसुमनिकरैः [illegible] रोपितं [illegible] मालां तुमुलं [illegible] ॥ वही ११।२८-२६

प्रेमी द्वारा अन्य प्रेयसी का आलिङ्गन करनेके लिए अपनी प्रेयसी की आँखोंमें पुष्पराग डाल दिया गया है, जिससे वह अंधी व्याकुल हो हाहाकार करती है और इस कपटको प्रकट कर देनेके कारण वह लम्बी साँस लेती हुई द्रोह करती है।

प्रेमी द्वारा गोत्र-स्खलन सुनकर कोई नायिका, जिसे प्रेमी माल्यार्पण कर रहा है, बिगड़ उठती है और कह उठती है कि मुझे छोड़ दो। इस अवस्थामें प्रिय द्वारा प्रेयसीके गलेमें पहिनाई गई माला ऐसी प्रतीत होती है मानो चंचल भ्रमरों की माला ही व्यथा पहुँचा रही है।

उद्दाम यौवन का चित्रण करते हुए कवि धनञ्जयने लिखा है —

महानिवेशं कुचभारमेका धृत्वा कराभ्यां त्वरितं जिहाना।
उच्चैः पयोधरावलम्बिता नताङ्गी शून्ये तरन्तीव घटद्वयेन ॥ द्विसन्धान ८।३६

यौवनभारसे झुकी उत्तरोत्तर अधिक वेगसे साँस लेती हुई कोई एक स्त्री अपने बड़े-बड़े स्तनोंके भारको दोनों हाथोंसे संभाले तेजीसे आगे बढ़ती हुई ऐसी मालूम होती है मानो दो कलशोंके सहारे आकाशमें तैर रही है।

इस प्रकार जैन साहित्यमें वनविहार जलकेलि उपवनयात्रा संभोगक्रीड़ा, गोष्ठीसमवाय-पुष्पावचय दोलाविलास सुरापान प्रभृति का सजीव चित्रण पाया जाता है। संगीत नृत्य-गान, चित्रकला आदिके वर्णन भी आये हैं। स्थानाभावसे यहाँ उक्त सभीके उदाहरण प्रस्तुत करना शक्य नहीं है।

योजनाएँ और कार्यक्रम

संसद् द्वारा निर्धारित कार्यक्रम में पारिभाषिक जैन शब्दकोष अपभ्रंश शब्दकोष महावीर-चरित (पालि, शौरसेनी प्राकृत अंग्रेजी हिन्दी, भोजपुरी मैथिली प्रभृति भाषाओं में) निर्माण की योजनाएँ हैं। पालि और भोजपुरी में महावीर-चरित लिखा जा रहा है संभवतः आगामी अधिवेशन तक इन दोनों भाषाओं में तैयार हो जायगा। प्रकाशन के लिए आर्थिक सहयोग के हेतु हम श्रीमन्तों से सहयोग की अपेक्षा करते हैं। इसी प्रकार कोष-ग्रन्थों में बौद्धिक सहयोग देने के लिए विद्वानों से भी सहयोग की प्रार्थना है। जैन वाङ्मय पर शोध-खोज करनेवाले विद्वानों को भी संसद् कार्यालय से सभी प्रकार की संभव सहायता दी जा सकती है। जो शोधकर्ता सहयोग के इच्छुक हों वे संसद्-कार्यालय से सम्पर्क स्थापित करें।

संसद् का प्रथम अधिवेशन जनवरी १९६५ ई० को आरा नगर में श्री बा० सुबोधकुमारजी श्री बा० नेमकुमारजी, श्री बा० चक्रेश्वरकुमारजी श्री बा० दयालचन्दजी श्री बा० महेन्द्रकुमार जी श्री बा० युगलकिशोरजी श्री प्रो० डॉ० राजारामजी श्री बा० अजितकुमारजी, श्री बा० रतनचन्दजी श्री बा० नरेन्द्रकुमारजी श्री बा० [illegible] प्रभृति महानुभावों के सहयोग से सम्पन्न हुआ। आरा के समस्त जैन समाज ने इस अधिवेशन को सफल बनाने में पूरा योगदान दिया। अधिवेशन के अवसर पर साहित्य-कला एवं दर्शन-आचार संगोष्ठियों का भी आयोजन किया गया।

कृतज्ञता-ज्ञापन :

इस अवसर पर विभिन्न गोष्ठियों में पढ़े गए निबन्धों का प्रकाशन करते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। ये सभी निबन्ध अपनी-अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अधिवेशन के अवसर पर किये गये निश्चय के फलस्वरूप ही यह स्मारिका प्रकाशित हो रही है। इसके प्रकाशन का कुल व्यय-भार सुधौली स्टेट (दक्षिण भारत) की युवरानी श्रीमती लक्ष्मीदेवी बा० ए० वाराणसी ने वहन किया है। आपके इस साहित्य-अनुराग के लिए हम संसद् की ओर से साधुवाद देते हैं। भारतीय जैन साहित्य संसद् के कार्यक्रमों में आप की विशेष अभिरुचि है और जैन वाङ्मय के जीवन-मूल्यों के प्रकाशन को मानवता की प्रतिष्ठा के लिए आप आवश्यक समझती हैं। अहिंसा संयम त्याग और तप जीवन के शाश्वतिक सत्य हैं इनके अपनाने से ही व्यक्ति अन्तर्मुखी दृष्टि प्राप्त करता है।

हम संसद के कार्यों में सहयोग देनेवाले समस्त महानुभावो के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हुए पुन सहयोग की आशा व्यक्त करते हैं।

नेमिचन्द्र शास्त्री

भारतीय जैन संसद् द्वारा स्वीकृत
कार्य-प्रवृत्तियाँ
और
उनके सम्पादनार्थ गठित
उपसमितियाँ

आरा-अधिवेशनपर भारतीय जैन साहित्य संसद्ने निम्न कार्य प्रवृत्तियाँ स्वीकृत कीं तथा उनके सम्पादनके लिए निम्न उपसमितियों का गठन किया गया।

१ पारिभाषिक जैन शब्द-कोष —पारिभाषिक जैन शब्द-कोष प्रस्तुत करनेके लिए निम्नलिखित व्यक्तियोंकी उपसमिति गठित की गई।

(१) आचार्य पं कलाशचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी।
(२) आचार्य पं फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी।
(३) आचार्य पं चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ जयपुर।
(४) डॉ गुलाबचन्द्रजी चौधरी दरभंगा।
(५) प्रो दरबारीलालजी कोठिया वाराणसी।
(६) डा श्री पुष्यमित्रजी आगरा।
(७) डॉ नेमिचन्द्रजी शास्त्री आरा।

२ पालि भाषामें भगवान् महावीर का जीवन चरित—पालि भाषामें भगवान् महावीर का जीवन चरित लिखने का कार्य डॉ महेश तिवारीको सौंपा गया और उन्हें सहायता देने के लिए निम्न लिखित व्यक्तियोंकी उपसमिति बनाई गई —

(१) डॉ श्री श्यामसिंहजी मिर्जापुर।
(२) डॉ नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा।
(३) डॉ० गुलाबचन्द्रजी चौधरी दरभंगा।

३ शौरसेनी प्राकृतमें भगवान् महावीर का जीवन-चरित एवं अन्य आख्यान-साहित्य।—प्रस्तुत करनेके लिए निम्नलिखित व्यक्तियोंकी उपसमिति संघटित की गई —

(१) डॉ० श्री एच० एल० जैन जबलपुर।
(२) श्री रामनाथ पाठक प्रणयी।
(३) डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, आरा।
(४) श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी।

भारतीय जैन साहित्य संसद् की नियमावली

(१) नाम—इस संस्था का नाम 'भारतीय जैन साहित्य संसद्' होगा जो नियमावलीमें आगेसे "संसद्" शब्द द्वारा अभिहित किया जायगा।

(२) स्थान—"संसद्" का प्रधान कार्यालय 'संसद्' के प्रधान मंत्रीके साथ रहेगा।

(३) बोध-वाक्य और प्रतीक—संसद् का बोध वाक्य 'णाणु लोयालोय पयासेइ' रहेगा जिसका प्रतीक साथमें संलग्न है।

(४) उद्देश्य—जैन वाङमय का पुनरुद्धार नवीन साहित्य का सृजन एवं तत्सम्बन्धी शोध एवं प्रकाशन आदि 'संसद्' के उद्देश्य रहेगें।

(५) कार्यक्रम—संसद् के कार्यक्रम निम्नलिखित होंगे —

(क) जैन वाङमयके विभिन्न अंगोपर शोध-कार्यमें शोध कर्ताओंको हर सम्भव सहयोग देना विभिन्न जैन एवं जैनेतर शोध-संस्थानोसे सम्पर्क एवं संयोजन तथा शोध निर्देशकोंसे सम्बन्ध रखना।

(ख) प्राचीन जैन वाङमय का उद्धार सम्पादन अनुवाद एवं नवीन जैन साहित्य का निर्माण एवं उसमें प्रोत्साहन देना।

(ग) जैन वाङ्मयका प्रकाशन एवं उसमे यथाशक्य सहयोग देना।

(घ) संसद् के वार्षिक अधिवेशनो संगोष्ठियो परिसवादों तथा निबन्ध पाठो का आयोजन करना एवं।

(ङ) संसद् की वार्षिक स्मारिका संसद् शोध-पत्रिका एवं विभिन्न जैन भण्डारोके वाङ्मयकी सूची प्रकाशित करना।

(छ) अन्य कार्य जो संसद् का कार्य समिति उचित समझे तथा जो उद्देश्यके विपरीत न हो।

(६) संसद् व्यवस्था—संसद् की कार्य-व्यवस्था संसद् के सदस्यो द्वारा प्रत्येक तीन वर्ष पर निर्वाचित संसद् कार्य-समिति द्वारा होगी जिसमे कम से कम १५ एवं अधिक से अधिक २१ व्यक्ति होंगे जिसमें एक अध्यक्ष दो उपाध्यक्ष एक प्रधानमन्त्री दो संयुक्तमंत्री और एक कोषाध्यक्ष होंगे। संसद् की वार्षिक बैठकमें संसद् का जाचा गया हिसाब उपस्थित किया जायेगा तथा संसद् को अपनी नीति-निर्धारण का अधिकार रहेगा। संसद् के अध्यक्ष कार्य-समिति एवं संसद् की बैठकोकी अध्यक्षता करेंगे तथा स्वीकृत कार्य क्रमोको कार्यान्वयन करनेके लिए प्रधान मंत्रीको समुचित निर्देशन देते रहेगे। प्रधान मंत्री संसद् एवं कार्य समितिके कार्यों का कार्यान्वयन करेंगे तथा संयुक्त मंत्रियोसे अपने कार्योंमें सहयोग लेते रहेगे।

(७) कार्य-समिति—संसद् की कार्य समिति पर संसद् की नित्यप्रति व्यवस्था सचालन इसके उद्देश्यो एवं कार्यक्रमोंको लागू करने अधिवेशनोके लिए सभाध्यक्ष विभागाध्यक्ष संगोष्ठी वक्ताओ आदिके नाम चुनने सम्पादक-मंडल गठन करने एवं अन्य संस्थाओंमें अपने प्रतिनिधि मनोनयन करने का अधिकार एवं दायित्व रहेगा।

(८) बैठकें—संसद् एवं कार्य समितिकी बैठक वर्षमें कम-से कम एक बार अवश्य होगी जिसे सामान्यत प्रधान मंत्री अध्यक्षकी सम्मति-पूर्वक बुलायेंगे। विशेष परिस्थितिमें कार्य-समिति की बैठक ५ सदस्योंके संयुक्त हस्ताक्षरसे बुलाई जायगी। संसद् की बैठककी गण-पूरक संख्या २१ सदस्योंकी होगी एवं कार्य समितिकी गण-पूरक संख्या एक तिहाई सदस्योंकी होगी।

(९) सदस्यता—"संसद्" के तीन प्रकारके सदस्य होंगे :—

१. साधारण सदस्य—जो "संसद्" के उद्देश्योंको मानते हुए वार्षिक दस रुपया सदस्यता शुल्क देंगे।

२. संरक्षक सदस्य—जो "संसद्" के उद्देश्योंको मानते हुए जीवन-भरके लिए सौ रुपया शुल्क देंगे।

३. संस्था-सदस्य—कोई भी संस्था प्रतिवर्ष बीस रुपया देकर "संसद्" का सदस्य बन सकती है जिसे अधिवेशनोंमें दो प्रतिनिधि भेजनेका अधिकार होगा।

(१०) अर्थ-व्यवस्था— 'संसद्" अपने सदस्योंके सदस्य शुल्क एवं सरकारी या गैरसरकारी अनुदान एवं दान द्वारा अपनी अर्थ व्यवस्था करेगी।

(११) संशोधन परिवर्तन— संसद्" की नियमावलीमें कोई भी संशोधन-परिवर्तन "संसद् की बैठक में उपस्थित सदस्योंके दो-तिहाई मतसे ही पारित होगा किन्तु ऐसे प्रस्तावोंकी सूचना तीन माह पूर्व ही देनी होगी।

(१२) संक्रमण-नियम—

(क) संसद् ' के वर्तमान सदस्य ही संसद के सदस्य समझे जायेंगे।

(ख) संसद् की प्रथम कार्य-समिति के सदस्यों की नामावलि निम्न प्रकार है —

१ आचार्य प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्ताचार्य वाराणसी अध्यक्ष।

२ आचार्य प चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ जयपुर, उपाध्यक्ष।

३ आचार्य प फूलचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्ताचार्य वाराणसी।

४ डा प्रो नेमिचन्द्रजी शास्त्री एम ए पी-एच डी आरा प्रधानमंत्री।

५ प्रो पं दरबारीलालजी कोठिया, एम ए आचार्य वाराणसी संयुक्तमंत्री।

६ डॉ कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल एम ए पी-एच डी जयपुर।

७ बाबू श्रीसुबोधकुमारजी रईस आरा कोषाध्यक्ष।

८ आचार्य डॉ० श्यामसिंह एम ए पी एच डी मिर्जापुर सदस्य।

९ प्रो श्रीरामजीसिंह एम ए भागलपुर सदस्य।

१० डॉ श्री ज्योतिप्रसादजी जैन एम ए पी एच डी लखनऊ सदस्य।

११ डॉ० प्रो गुलाबचन्द्रजी चौधरी एम ए पी एच डी दरभंगा सदस्य।

१२ डॉ० प्रो महेश तिवारी एम ए पी एच डी नालन्दा सदस्य।

१३ प्रो श्री उदयचन्द्रजी एम ए वाराणसी सदस्य।

१४ प्रो श्री खुशालचन्द्रजी गोरावाला एम ए आचार्य काशी सदस्य।

१५ डॉ प्रो राजारामजी जैन एम ए पी-एच डी आरा सदस्य।

१६ श्री देवेन्द्रकिशोरजी जैन आरा, सदस्य।

१७ डॉ० प्रो० प्रेमसागरजी जैन एम ए पी-एच डी, बड़ौत सदस्य।

१८ श्री प्रो० अमृतलालजी शास्त्री, साहित्य-जैनदर्शनाचार्य काशी, सदस्य।

१९ श्री पं० रामनाथजी पाठक प्रणयी एम ए (प्राकृत एवं संस्कृत) आचार्य, बेलवर, सदस्य।

२० श्री धन्नालालजी [illegible], [illegible], सदस्य।

२१ श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर, सदस्य।

MEMBERSHIP ENROLMENT FORM

To,
The Honi. Secretary
Bhartiya Jain Sahitya Sansad
Regd No 18 dated 12-8-65 under the Societies Registration Act 21 1860
Jain Siddhanta Bhawan
ARRAH (Bihar)

Dear Sir

I want to be enrolled as a member i your Bha tiya Jain Sahitya Sansad for which I am sending you the Yearly Membership / Life Membe ship fee of Rs 10/ (Rupees ten only) / Rs. 100/ (Rupees hund ed only) for the year by Money Order/ Indian Postal Order no dated for be ng en elled as a member

I will abide by all the rules & regulations in force and to further changes in them in futu e

I am gi ng below the parti ul r as follow

Name in full (Block letter)

Address

Post Office D st ct State

Age Natio al ty

Qualifications

Publications

Present occupat on/Designation

Other particulars if any

Yours faithfully

Signature